…ग्रंथपीठ

भगवद्-गीता

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

संपादक

क. मा. मुन्शी

रं. रा. दिवाकर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई
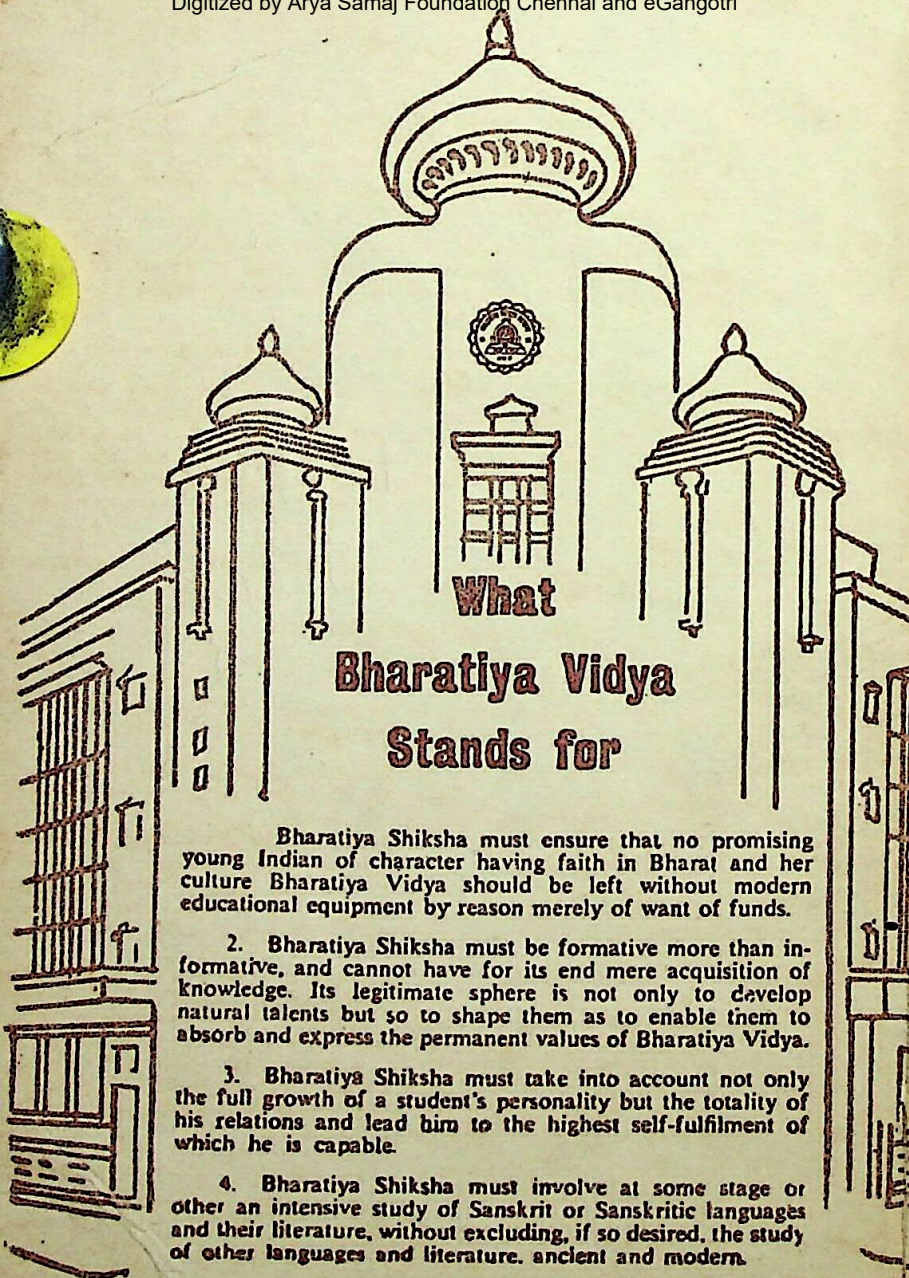
What Bharatiya Vidya Stands for

Bharatiya Shiksha must ensure that no promising young Indian of character having faith in Bharat and her culture Bharatiya Vidya should be left without modern educational equipment by reason merely of want of funds.

2. Bharatiya Shiksha must be formative more than informative, and cannot have for its end mere acquisition of knowledge. Its legitimate sphere is not only to develop natural talents but so to shape them as to enable them to absorb and express the permanent values of Bharatiya Vidya.

3. Bharatiya Shiksha must take into account not only the full growth of a student's personality but the totality of his relations and lead him to the highest self-fulfilment of which he is capable.

4. Bharatiya Shiksha must involve at some stage or other an intensive study of Sanskrit or Sanskritic languages and their literature, without excluding, if so desired, the study of other languages and literature, ancient and modern.
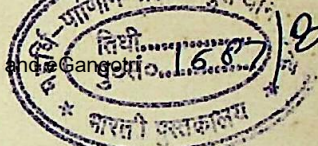
5. The re-integration of Bharatiya Vidya, which is the primary object of Bharatiya Shiksha, can only be attained through a study of forces, movements, motives, iddas, forms and art of creative life-energy through which it has expressed itself in different ages as a single continuous process.

6. Bharatiya Shiksha must stimulate the student's power of expression, both written and oral, at every stage in accordance with the highest ideals attained by the great literary masters in the intellectual and moral spheres.

7. The technique of Bharatiya Shiksha must involve—

(a) the adoption by the teacher of the *Guru* attitude which consists in taking a personal interest in the student; inspiring and encouraging him to achieve distinction in his studies; entering into his life with a view to form ideals and remove psychological obstacles; and creating in him a spirit of consecration; and

(b) the adoption by the student of the *Shishya* attitude by the development of—

(i) respect for the teacher,

(ii) a spirit of inquiry,

(iii) a spirit of service towards the teacher, the institution, Bharat and Bharatiya Vidya.

8. The ultimate aim of Bharatiya Shiksha is to teach the younger generation to appreciate and live up to the permanent values of Bharatiya Vidya which flowing from the supreme art of creative life-energy as represented by Shri Ramachandra, Shri Krishna, Vyasa, Buddha and Mahavira have expressed themselves in modern times in the life of Shri Ramakrishna Paramahamsa, Swami Dayananda Saraswati, and Swami Vivekananda, Shri Aurobindo and Mahatma Gandhi.

9. Bharatiya Shiksha while equipping the student with every kind of scientific and technical training must teach the student, not to sacrifice an ancient form or attitude to an unreasoning passion for change; not to retain a form or attitude which in the light of modern times can be replaced by another form or attitude which is a truer and more effective expression of the spirit of Bharatiya Vidya; and to capture the spirit afresh for each generation to present it to the world

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।
(प्रत्येक दिशा से उच्च विचार आयें)

ऋग्वेद, १-८९अ.

भवन ग्रंथपीठ

संपादक
क. मा. मुन्शी
रं. रा. दिवाकर

भगवद्-गीता

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

भ व न ग्रं थ पी ठ

संघटन-समिति

लीलावती मुन्शी—अध्यक्ष
कृष्णकुमार बिड़ला
श्रीगोपाल नेवटिया
जयंतकृष्ण ह. दवे
सु. रामकृष्णन्

भवन ग्रंथपीठ

भगवद्-गीता

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी
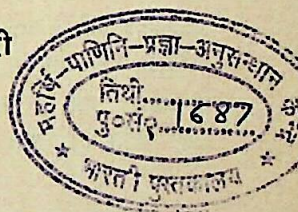
१९६६
भारतीय विद्या भवन
चौपाटी : बम्बई

प्रधान सम्पादक की प्रस्तावना

मार्च, सन् १९५१ ई. में मैंने 'भारतीय विद्या भवन' की "बुक यूनिवर्सिटी" का आयोजन किया था। इस संस्था का ध्येय यह है कि एक-सी सज-धज के साथ, सस्ते मूल्य में ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय, जिनमें विश्व का उच्च साहित्य आ जाय—खास तौर पर वह साहित्य, जो भारतीय है और जिसमें उन मौलिक तथ्यों का समावेश है जिनका प्रतिनिधित्व भारतीय संस्कृति करती है।

इस दिशा में पहले ही यह तय किया गया है कि "जनरल-एडीटरों" द्वारा चुनी गई १०० पुस्तकें अँग्रेजी में प्रकाशित की जायँ, और इनमें से ५० पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य तुरन्त शुरू कर दिया जाय। ये पुस्तकें लगभग २०० से लेकर २५० पृष्ठों तक की होंगी और इनका मूल्य प्रति पुस्तक रु. २.५० होगा।

विचार यह भी है कि, इन पुस्तकों को तथा दूसरी किताबों को आठ भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में—जैसे कि (१) हिन्दी, (२) बँगला, (३) गुजराती, (४) मराठी, (५) तमिल, (६) तेलुगु, (७) कन्नड़ और (८) मलयालम् में—प्रकाशित किया जाय। साहित्य के इस सामान्यतया व्यापक स्रोत से, पाठक विश्व की और भारतीय साहित्य की विचारधाराओं को हृदयंगम करने में समर्थ होंगे। इस वाङमय-वारिधि में भाषारूपिणी महोर्मियों की विभिन्नता होने पर भी, प्रेरणा और भावना-रूपी अगाध जल समानरूप से भरा होगा।

इस योजना के अन्तर्गत ९०० ग्रन्थों का मुद्रण-प्रकाशन अपेक्षित है जिसके लिए एक अखिल भारतीय संगठन तथा विशिष्ट साधनों की आवश्यकता है। इस योजना को सुसंगठित और कार्यान्वित करने में 'भवन' विशेष प्रयत्नशील है।

वर्तमान युग की विशेषताओं को सर्वथा दृष्टि में रखते हुए, यह 'भवन' अपने ध्येय के अनुरूप, भारतीय संस्कृति के समन्वय का

समर्थक है और उसकी उन मुख्य मौलिक विशेषताओं के पुनरुज्जीवन का भी, जैसे कि–

(१) मनुष्य को स्वातन्त्र्य की ओर ले जानेवाली स्थितियों के समन्वय के साथ-साथ, मानव जाति की प्रतिष्ठा, जिससे कि वह अपने ही स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार विकासशील बने।

(२) नैतिक-व्यवस्था के ढाँचे के भीतर ही, मनुष्य के कार्य-कलाप और सामाजिक संबंधों में अनुरूपता।

(३) जीवन-संबंधी सर्जनात्मक कला की प्रेरणा–जिसके द्वारा मानवोचित वृत्तियाँ प्रगति करते-करते उत्कृष्टताओं में परिवर्तित होती हैं, ताकि मनुष्य, ईश्वर का निमित्त-मात्र बन जाय और 'ईश्वर का विश्व में, एवं विश्व का ईश्वर में' साक्षात्कार करे।

भारत का प्राचीन एवं नवीन साहित्य, उसकी सभी भाषाओं के माध्यम से, वाङ्मय के ऐसे विशाल भंडार में केन्द्रीकृत किया जायगा, जो सबके लिए सुलभ हो। इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाले अन्य भाषाओं के ग्रंथ भी इस भंडार में शामिल कर लिये जायँगे। मैंने यह अनुभव किया है कि सांसारिकता अपने अनावृत रूप में हमें बहुत अधिक घेरे हुए है। ऐसी परिस्थिति में पुस्तकों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य और जाग्रत् की गई अभिलाषा, हमें जितना अधिक ऊपर उठायेगी, अनुप्रेरित और समुन्नत करेगी, उतना अधिक और कोई पदार्थ नहीं कर सकता।

हिन्दी में "भवन ग्रंथपीठ" का यह चतुर्थ ग्रंथ है। मैं आशा करता हूँ कि आप इसका स्वागत करेंगे, जिससे हमें अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित करने का उत्साह मिले।

मैं उन सभी व्यक्तियों को धन्यवाद समर्पित करता हूँ, जिन्होंने 'भवन' के इस विभाग के कार्य को सफल बनाने में सहायता प्रदान की है और उसके निमित्त कार्य किया है।

बम्बई। क. मा. मुन्शी

भूमिका
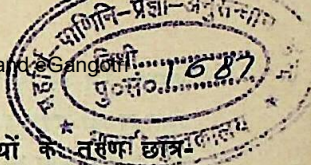
यह बड़े खेद की बात है कि हमारे विश्वविद्यालयों के तरुण छात्र-छात्राओं को गीता और हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों की जानकारी, यूरोपीय विश्वविद्यालयों के अंडर-ग्रेजुएट छात्रों की बाइबिल और ईसाई धर्म-सिद्धान्तों की जानकारी की तुलना में, बहुत कम होती है। हिन्दू-धर्म में हमें एक महान् दर्शन की विरासत मिली है। योग्य-से-योग्य विचारकों के मतानुसार वह दर्शन उस दिशा में लगाई गई बुद्धि और कल्पना- शक्ति के सर्वोत्तम प्रयत्नों की उपज है। यदि वह दर्शन किसी पश्चिमी राष्ट्र के युवक-युवतियों को विरासत में मिला होता, तो वे उसपर एक साम्राज्य पा जाने के समान गौरव अनुभव करते।

यह छोटी-सी पुस्तक मुख्यरूप से इसलिए लिखी गई है कि विद्यार्थियों के लिए एक मार्ग-दर्शिका का काम दे। इसे पढ़ने पर यदि विद्यार्थियों को मूल या टीका में कोई ऐसे प्रसंग मिलें, जो संतोषकारक मालूम न दें, अथवा अस्पष्ट या विवादास्पद मालूम दें, तो उन्हें अपने सहपाठियों के साथ उनपर चर्चा करनी चाहिए, या विद्वानों से समझना चाहिए। जिस महान् धार्मिक दर्शन के लिए भारत सारे सभ्य संसार में प्रसिद्ध है, उसके सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान रखनेवाला कोई भारतीय यह दावा नहीं कर सकता कि उसने व्यक्तिगत विकास करनेवाली सामान्य शिक्षा प्राप्त की है।

इस पुस्तक को लिखने का प्रयत्न वैसा ही है, जैसा कि एक प्राचीन कहानी में एक पिता ने किया था। उसने अपने पुत्रों को गड़ा हुआ खजाना निकालने के लिए अपने कुटुम्ब को बागीचा खोदने को कहा था। खोदने से धन तो अवश्य मिला, परन्तु वह भूमि में गड़े घड़े में भरी हुई मुहरों के रूप में नहीं, किन्तु उनके परिश्रम के पुरस्कार के रूप में था।

मतलब यह कि भूमि की गहरी खुदाई के बाद बीज डालने से बागीचे में बहुत अच्छी उपज हुई। इसके लेखक ने स्वयं जो-कुछ लिखा है, उसमें विशेष-जैसा कुछ नहीं है। पर उससे अगर पाठकों को खोदने की प्रेरणा मिले, तो हमारी महान् पैतृक सम्पत्ति 'गीता' साधना में लगे हुए आत्मा को विपुल 'उपज' प्रदान करेगी।

पहला संस्करण प्रकाशित होने के बाद अगले संस्करणों को अधिक उपयोगी बनाने के लिए मुझे बहुत-से सुझाव दिये गये। जैसे, कहा गया कि इसमें समान अर्थवाले उद्धरण दे दिये जायें, उपनिषदों के मूल स्थलों का उल्लेख कर दिया जाय, और सहायक ग्रंथों की सूची जोड़ दी जाये। ये सब सुझाव बहुत उपयोगी हो सकते हैं, पर मैंने इन्हें स्वीकार नहीं किया। मैं चाहता हूँ कि यह पुस्तक नये अभ्यासियों के लिए ही रहे। मेरी इच्छा इसे विद्वानों के योग्य बनाने की नहीं है।

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

विषय-प्रवेश

गीता की गणना हिन्दू-धर्म और नीतिशास्त्र के सबसे प्रामाणिक मूलग्रंथों में की गई है। सभी संप्रदायों के हिन्दुओं ने उसे इसी रूप में स्वीकार किया है। हमारे युवक-युवतियाँ यदि उसके चुने हुए श्लोकों का भी अध्ययन कर लें, और अपने उस अध्ययन को मनन व चिंतन द्वारा पुष्ट करें, तो वे अपने पूर्वजों का धर्म समझ सकेंगे। हमने जिस ऊँचे दर्शन, कला, साहित्य और सभ्यता की विरासत पाई है, उस सब का विकास हमारे पूर्वजों के धर्म की भूमिका पर ही हुआ है।

अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में गीता के अनेक उत्तम अनुवाद मिलते हैं। विद्वानों के लिए शंकराचार्य और दूसरे बड़े-बड़े धर्माचार्यों के भाष्य हैं ही, जो प्रत्यक्ष ज्ञान की खानि हैं। उनकी तुलना में आज-कल की कोई भी टीका निःसार मालूम होती है। यह पुस्तक तो उन विद्यार्थियों के लिए है, जो समय और आवश्यक योग्यता न होने के कारण उन महान् भाष्यों में से किसीके साथ भी मूल गीता का अध्ययन नहीं कर सकते।

गीता महाभारत का एक प्रकरण है। युद्ध-भूमि पर दोनों पक्षों के लोगों को एक-दूसरे के वध के लिए खड़े देखकर अर्जुन विषाद में डूब गया था। गीता का आरम्भ उसी विषाद के वर्णन से होता है। अर्जुन के विषाद और संशयों को मिटाने के लिए श्रीकृष्ण ने हिन्दू-धर्म की जो व्याख्या की, उसकी संगति इस प्रसंग के साथ बैठा दी गई है। श्रीकृष्ण गीता में, आरंभ से अन्त तक, स्वयं परमात्मा के रूप में बोल रहे हैं।

गीता को श्लोकबद्ध करने में पुरातन कवि ने अपनी साहस पूर्ण और अनूठी कल्पना से बड़ी ही सुन्दर और उपयुक्त भूमिका खड़ी की है। पर इस सुन्दरता और उपयुक्तता और ऊपर के अनुच्छेद में कही

हुई सब बातों के होते हुए भी विद्यार्थियों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दू-धर्मग्रंथ के रूप में गीता महाभारत से स्वतंत्र है। उसमें महाभारत के प्रसंग का महत्त्व बहुत घट गया है। प्राचीन भाष्यों में तो वह लगभग रहा ही नहीं। कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रसंग को अक्षरशः स्वीकार कर लेने और गीता में जो-कुछ कहा गया है, उस सबका अर्थ उस विशेष प्रसंग के प्रयोजन के अनुसार लगाने से गीता का सही अर्थ समझने में सहायता नहीं मिलेगी। उलटे, गलती हो सकती है। यह सच है कि गीता की शिक्षा अपनी सार्वलौकिक उपयोगिता के कारण महाभारत के उस प्रसंग पर भी लागू होती है। उससे अर्जुन की समस्याओं और संशयों का हल हो जाना भी स्वाभाविक है। पर यदि उस प्रसंग ने हमारी बुद्धि को जकड़ लिया, और हम उस एक के आधार पर गीता की सामान्य शिक्षा का अर्थ लगाने लगे. तो हम उस शिक्षा को सही रूप में न समझ सकेंगे। संस्कृत-साहित्य में महान् ग्रंथों को ऐसी या किसी दूसरे प्रकार की भूमिका के साथ आरंभ करने की एक साधारण प्रथा है। भगवद्गीता को इस आरोप से बचाने के लिए कि वह हिंसा को उत्तेजन देती है। महाभारत की सम्पूर्ण कथा को एक लम्बे रूपक में परिणत करना पड़ता, जो बड़ा दुःसाध्य होता। इसलिए, जब हम सनातन धर्म के मूल ग्रंथों के रूप में गीता का अध्ययन करें, तब हमें युद्ध का प्रसंग भुला देना चाहिए।

गीता के अठारह अध्याय से गीता का आशय साधारण तौर पर भलीभाँति समझा जा सकता है।

भगवद्गीता में कोई ऐसी नई शिक्षा देने का दावा नहीं किया गया, जो पहले से ही उपनिषदों में न पाई जाती हो। उसमें प्राचीन शिक्षाओं का केवल समन्वय किया गया है। इस पुस्तक का उद्देश्य भगवद्गीता का कोई नया अर्थ

बताना नहीं है। पाठकों को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि इसमें किन्हीं पुराने भाष्यों का खंडन या नये अर्थों का मंडन दिखलाई पड़ेगा। इसका उद्देश्य तो गीता की विषय-वस्तु को सरल रूप में प्रस्तुत करना और उसे छोटे-से घेरे में ले आना है, जिससे दूसरे विषयों के अध्ययन में लगे हुए आधुनिक विद्यार्थी उसमें प्रतिपादित श्रद्धा, अनुशासन और आदर्शों को समझ सकें, जिनसे हमारे पुरखों का जीवन-पथ प्रकाशित हुआ और जिन्हें सनातन धर्म या हिन्दू-धर्म का नाम दिया गया है।

प्रकृति के नियमों और विज्ञान के चमत्कारों का अल्प ज्ञान कुछ लोगों के स्वभावों पर मदिरा के जैसा काम करता है। जब यह ज्ञान दूसरों से प्राप्त कर लिया जाता है, और उसमें निजी प्रयत्नों और अनुसन्धानों का विशुद्ध प्रभाव नहीं होता, तब तो यह परिणाम और भी अधिक दिखाई देता है। उनका संतुलित ज्ञान गड़बड़ा जाता है। अज्ञात उनके लिए अज्ञात ही रहता है। इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि में उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। धार्मिक ग्रंथ और धर्मशास्त्र उन्हें पुरातन काल के लोगों की मूर्खता मालूम होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें ठगी का व्यापार चलाने के साधन और जानबूझकर निकाली हुई युक्तियाँ माना जाता है। पर जिन्होंने भौतिक विज्ञानों का बहुत गहरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठिन प्रयत्न किया है, और इस तरह जिनका ज्ञान उनकी संतुलित बुद्धि और निर्णय-शक्ति स्थिर रखने के लिए काफी है, वे जानते हैं कि 'अज्ञात' ज्ञात से कहीं अधिक विशाल है। समय की गति के साथ-साथ मानव-बुद्धि उसके अधिक-से-अधिक अंश को अपनी परिधि में भले ही लाती रहे, फिर भी 'अवशेष' रहता ही है। इस अवशेष की न तो उपेक्षा की जा सकती है और न उसे मानव-बुद्धि के नियंत्रण में लाया जा सकता है। सच्चे विज्ञानवेत्ता अपनी नम्रता को कायम रखते हैं। प्रकृति के कुछ रहस्यों का जो ज्ञान

उन्हें होता है उसके कारण ही वे और भी अधिक नम्रता और आदर-भाव से उस तत्त्व का चिन्तन करते हैं, जो हमेशा मनुष्य की विश्लेषण-बुद्धि के परे रहनेवाला है।

सब कारणों के कारण, सब नियमों के नियम को मनुष्य अपने तर्क और अनुसंधान के ऊँचे-से-ऊँचे प्रयत्नों से भी नहीं समझ सकता। मनुष्य की बुद्धि की इतनी अच्छी रचना की गई है, और उसमें इतने अच्छे संस्कार भरे हुए हैं कि उसकी कोई मर्यादा है यह बात सोची नहीं जा सकती। फिर भी यह सत्य तो बाकी रहता ही है कि अंश कितना भी अच्छा क्यों न बना हो, वह 'पूर्ण' का स्थान नहीं ले सकता। पूँछ को मुँह में दबाये हुए साँप का प्रतीक–मानों वह अपने पूरे शरीर को निगल रहा हो–सम्पूर्ण को ग्रहण करने का प्रयत्न करनेवाली मानवीय बुद्धि की मर्यादा का उदाहरण है। यह तो एक दानव के लिए भी संभव नहीं कि वह किसी मंच पर खड़ा हो और उसे उठा भी ले। हम जिस परमकारण पर खड़े हैं, और जिसपर हम अपने मन की हरेक गति-विधि के लिए निर्भर हैं, उससे बच निकलने या उसकी नापजोख करने के लिए हम उससे कूदकर अलग नहीं हो सकते।

मनुष्य के ज्ञान की यह मर्यादा वैज्ञानिक और दार्शनिक अनु-संधानों की एक सुपरिचित सीमा है। किसीभी सत्य का अवगाहन कीजिए किसी भी प्रपंच का अनुसंधान कीजिए या किसीभी विशेषता का काफी गहराई तक परीक्षण कीजिए, एक सीमा के बाद अज्ञेय से टक्कर हो जाती है, और उसके आगे प्रगति रुक जाती है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक विषय में हम परमात्मा से जा टकराते हैं। जो अज्ञेय है वह सर्व-व्यापक है। जो ज्ञात और ज्ञेय है, वह असीम विस्तार के रहस्य-मंडल की सिर्फ एक पतली और ऊपरी परत है। यह असीम अज्ञात-तत्त्व सब धर्मों, धर्मशास्त्रों और ऋषि-मुनियों की वाणी और कार्यों का विषय होता है। उनकी पद्धति वह नहीं होती,

जो पदार्थ के सम्बन्ध में विज्ञान की होती है। वह भिन्न होती है, और वही एकमात्र संभव पद्धति भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अज्ञात की चिन्ता क्यों की जाये ? उसका क्या उपयोग है ? उत्तर यह है कि सत्य की उपेक्षा करना मूर्खता है। अज्ञात इसलिए कम सत्य नहीं हो जाता कि वह अज्ञात है। हम उसके विषय में इतना जानते हैं कि 'उसका 'अस्तित्व' है, और सारी सृष्टि से—जिसमें हम भी शामिल हैं—उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। तब हम उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं? हम जानते हैं कि मनुष्य की बुद्धि के सामने जो शून्यता आकर खड़ी हो जाती है वह सचमुच शून्यता नहीं है, बल्कि उसमें अत्यन्त महत्वपूर्ण वास्तविकता भरी हुई है। यह बात अलग है कि हम उसमें गहरे नहीं उतर सकते, उसका विश्लेषण नहीं कर सकते, या उसे समझ नहीं पाते।

भौतिक जगत् में क्या गणितशास्त्री ऐसी संख्याओं से काम नहीं लेता, जो व्याख्या के लिए बहुत बड़ी या बहुत छोटी होती हैं? अपरिमिति, शून्य और असंख्यता की गणितशास्त्र में उपेक्षा नहीं की जाती। उलटे उनसे विज्ञान के विकास में बहुत सहायता मिलती है। और उस विज्ञान के बल पर इंजीनियर और यंत्र-विशारद सच्चे तथा उपयोगी निर्माण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार, जो हमें हल के परे या असीम दिखलाई पड़ता है, वह हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए भी असत्य या निरुपयोगी नहीं है। हो सकता है कि गीता, उपनिषदों तथा संसार के अन्य धर्म-ग्रंथों में जो-कुछ कहा गया है, वह हमें बहुधा उतना यथार्थ या स्पष्ट न मालूम होता हो, जितना कि हम चाहते हैं। उनमें दी हुई व्याख्याएँ भौतिक विज्ञान या गणितशास्त्र में पाये जानेवाले प्रमाणों के समान संतोषकारक नहीं होतीं। यह अनिवार्य है क्योंकि विषय-वस्तु बिलकुल भिन्न होती है, और उसके निर्वाह की दृष्टि और प्रयोग की पद्धति भी बदल जाती है। मनुष्य की बुद्धि के दायरे में

आनेवाले विषयों की व्याख्या जा सकती है, और उन्हें सिद्ध भी किया जा सकता है। किन्तु जो विषय उसके परे होते हैं, उन्हें समझने के लिए श्रद्धा और ध्यान आवश्यक हैं। धर्मशास्त्र और धार्मिक ग्रंथों को, श्रद्धापूर्वक ध्यान करने में सहायता पहुँचानेवाले, ग्रंथ माना जा सकता है। श्रद्धामय ध्यान ही एकमात्र उपाय है, जिससे मनुष्य की बुद्धि अज्ञात सत्य की झलक पा सकती है। पहले जो वस्तु परस्परविरोधी वाक्यों की निरर्थक ध्वनि-सी मालूम होती है, उसीमें मन और कर्मों को विशुद्ध कर लेने से तथा ध्यान और प्रार्थना के बल से सार तत्त्व और वास्तविक अर्थ दीखने लग जाता है। अब तक जो अस्पष्ट या धुंधला-सा था, उसपर अब एक नया और अद्‌भुत प्रकाश पड़ता है, जिससे हम उसे देख सकते हैं। हाँ, यह हो सकता है कि अब भी वह हमें धुंधला दिखाई देता हो, और उतना सारा भी हम दूसरों को कहकर न बता सकते हों। इसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने देखा, और इसी प्रकार फिर से हम भी देख सकते हैं।

किसीभी धर्म को समझने के लिए श्रद्धा-भावना आवश्यक है। इस शंका से ही श्रीगणेश करना निरी मूर्खता है, कि किसी देश के धर्म-संस्थापक और धर्माचार्य कुशल ठग थे, उनकी दिलचस्पी अपने-आपको आगे बढ़ाने में या किसी वर्ग-विशेष का लाभ करने में थी और लोग उन बाकी ठगों के धोखे में आकर उनको असीम श्रद्धा व प्रेम की भावना से देखने लगें। प्राचीन काल के जिन लोगों से हमने अपनी सारी बुद्धि की विरासत पाई है, वे उतने ही व्यावहारिक थे जितने कि हम हैं, वे मनुष्यों और भूत-द्रव्यों का ज्ञान प्राप्त करने में उतनी ही दिलचस्पी रखते थे, जितनी कि हम रखते हैं। यह कहना भी अनुचित न होगा कि वे उतने ही शंकाशील भी थे जितने कि हम हैं। संभवतः उनमें बौद्धिक कुशलता भी उतनी ही थी जितनी कि हम में है। इसके सिवाय उनके पास मनुष्यों और वस्तुओं का अध्ययन

करने के लिए समय भी अधिक था। इसलिए यह मान लेना बिलकुल ही गलत होगा कि वे धोखे में आ गये, और उनके बीच ऐसे बुद्धिमान या साहसी लोग नहीं थे, जो इन अनर्थों को रोक सकते। विभिन्न धर्मों के प्रवर्तकों और आचार्यों को उनके अपने जमाने के लोग साधु, निष्कपट, गहरा चिन्तन करनेवाले और अनुसरणीय महापुरुष मानते थे। यह था सीधे संपर्क और नीजी अनुभव का परिणाम। बाद में यह अनुभव परंपरा का रूप लेकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में उतरता रहा, और इस प्रकार वह श्रद्धा-भक्ति स्थिर बनी रही। उनकी महानता के कारण ही विभिन्न देशों में विभिन्न धर्मों को वहाँ के आदर्श लोगों की श्रद्धा-भक्ति प्राप्त हुई और वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही। इसलिए किसी धर्म का अध्ययन करने में 'खुफिया पुलिस' की मनोवृत्ति से काम लेना न सिर्फ ग़लत हैं, बल्कि वह मनुष्य को इतना पंगु भी बना देता है कि वह उस धर्म को समझ ही नहीं सकता। निःसंदेह, व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थों ने जिस तरह अन्य संस्थाओं को विकृत किया है, उसी तरह धर्म के स्वरूप को भी बिगाड़ दिया है। परन्तु बिगड़े हुए धर्म को 'मूल धर्म' मान लेना और धर्म-प्रवर्तकों में वंचकता का आरोप करना सत्य की खोज में अवैज्ञानिक मनोवृत्ति को प्रकट करता है। हमारे भारत वर्ष के जो तत्त्व-चिंतक अपने विशाल विचारों की थाती हमें सौंप गये हैं, वे ऋषि थे, और सच्चे ऋषि थे। इसलिए हमें प्राचीन धर्मशास्त्रों के अध्ययन में श्रद्धायुक्त अनुराग से ही काम लेना चाहिए।

★

सूची

★

प्रकरण १

आत्मा

[अध्याय २–श्लोक ११–१३, १७, २०, २२, २४, २५, और ३०.
अध्याय १३–श्लोक २६, ३२, और ३३]

धर्म-साधना में सबसे पहले यह समझना जरूरी है कि आँखों से दिखाई देनेवाले देह के पीछे एक तत्व और भी है। इसे 'आत्मा' कहते हैं। देह ही सबकुछ नहीं है। उसमें एक घर का मालिक-'देही' भी है। देह का वही अधिकारी, दिखाई न देता हुआ भी, सदा अपना काम करता रहता है। सच्चा जीवन हम तभी जी सकते हैं, जब उसको जान लें। उसे मस्तिष्क की सूक्ष्म क्रियाएँ समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। वह केवल विचार, कल्पना, भावना, इच्छा-शक्ति, या विवेक-बुद्धि नहीं है। ये सब तो शरीर के व्यापार-मात्र हैं। आत्मा इन सबसे विलग और इनके पीछे है। वह देह के किसी विशेष भाग में नहीं रहता। सारे देह और इंद्रियों में वह व्याप्त रहता है। उस पर 'विस्तार' के नियमों का प्रभाव नहीं पड़ता। जिस तरह भौतिक विज्ञानवेत्ता आकाश को सब जगह और सब वस्तुओं में समाया हुआ बताते हैं, उसी तरह वह भी सारे शरीर में समाया है। आत्मा केवल मनुष्य में ही नहीं, बल्कि हरेक प्राणी और वनस्पति में भी होता है। देह केवल 'कर्मक्षेत्र' या 'क्षेत्र' है। उसमें रहनेवाला आत्मा 'क्षेत्री' या 'क्षेत्रज्ञ' कहलाता है।

शरीर का अन्त हो जाने पर, और उसे गाड़ या जला देने पर, अथवा जंगली पशु-पक्षियों के खा डालने पर, आत्मा का अन्त नहीं

होता। वह अमर है। इसलिए किसी की मृत्यु पर शोक करना बुद्धि-मानी नहीं है। जैसे हम पुराने कपड़े उतार देते हैं, वैसे ही मृत्यु से आत्मा का देह-रूपी कपड़ा उतर जाता है।

CHAPTER I

THE SOUL

[Adhyaya II—Slokas 11-13, 17, 20, 22, 24, 25, and 30. Adhyaya XIII—Slokas 26, 32 and 33.]

THE first step in religion is the realization of the existence of an entity behind the apparent body, *i.e.*, the Soul. The visible body is not the whole reality. There is in it an unseen but ever-active master of the house, the *Dehi* (देही), the possessor of the body, whose existence we should realize before we can live the true life. This entity, the Self, should not be confused with the intangible functions of the brain. It is not mere Thought, Perception, Emotion, Will or Discriminative Intelligence. These are all but functions of the physical body. The Soul is an entity apart from and behind all these functions. It is not seated in any particular part of the body but pervades the whole of it and all the senses, unaffected by the law of "extension" even as ether was taken by the physicists to pervade the whole of space and matter. Not only man, but every animal and plant, every living thing, has a Soul. The body is but the field of action, the *Kshetra*,

in which resides the Soul, who is the *Kshetri*, or *Kshetrajna*.

The Soul does not cease to exist when the body dies and is buried, burnt or eaten up by wild birds or beasts. Grief over death is foolish, the Soul being incapable of death. It is the body that is cast off in death even as we cast off old clothes.

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥

श्री भगवान् ने कहा :

जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, तू उनके लिए ही शोक कर रहा है, फिर भी बातें ज्ञान की जैसी करता है! ज्ञानी लोग न तो जीवित लोगों के लिए शोक करते हैं, न मरे हुओं के लिए। अ०-२.११

The Lord said:

You grieve for those who are not to be grieved for, yet you speak words of seeming wisdom. The enlightened grieve neither for the living nor for the dead. (II-11)

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

यह तो है नहीं कि मैं पहले कभी नहीं था, या तू नहीं था, या ये राजा लोग नहीं थे; यह भी नहीं हो सकता कि हममें से कोई आगे कभी नहीं होगा। अ०-२. १२

At no time was I non-existent, nor thou, nor these chiefs of men, nor shall any of us ever cease to be hereafter. (II-12)

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

जिस तरह देहधारी आत्मा देह के बालपन, जवानी और बुढ़ापे से गुजरता है, ठीक उसी तरह वह दूसरे देह में चला जाता है। इसलिए इस विषय में ज्ञानियों को मोह नहीं हुआ करता। अ०-२. १३

As the Soul dwelling in the body goes through childhood, youth and old age, so it moves on to another body; the wise are not disturbed in mind over it. (II-13)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

तू यह समझ ले कि जो आत्मा इस पृथ्वी के सारे ही प्राणियों में व्याप्त है, वह अविनाशी है। उसका नाश कोई नहीं कर सकता। २. १७

Know that to be indestructible by which all these living beings here on earth are pervaded. No one can work the destruction of that imperishable entity. (II-17)

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

यह आत्मा न तो कभी जन्मता है, न मरता ही है, ऐसा भी नहीं

कि यह एकबार होकर फिर कभी न होगा; यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुरातन है, देह का अन्त कर देने पर भी यह मारा नहीं जाता। २. २०

The Soul is not born, nor does it die; nor having been, ceases at any time to be; unborn, unchanging, ever-abiding, primeval, it is not killed when the body is killed. (II-20)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जिस तरह पुराने वस्त्रों को छोड़कर मनुष्य नये वस्त्र पहन लेता है, उसी तरह पुराने शरीरों को छोड़कर यह आत्मा नये शरीर धारण करता है। २. २२

Men cast off worn-out garments and put on new ones. Even so the Soul casts off worn-out bodies, and enters into new bodies. (II-22)

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

यह छेदा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह भिगोया नहीं जा सकता और न सुखाया ही जा सकता है। यह नित्य है, सर्वव्यापी है, स्थिर है, अचल है और सनातन है। २. २४

It is uncleavable, it is incombustible, it cannot be drenched or dried up; it abides for ever, all-pervasive, stable, immovable, primeval. (II-24)

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।

इस आत्मा को 'अव्यक्त' कहते हैं, अर्थात् यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। इसे अचिन्त्य कहते हैं, अर्थात् यह मन से भी नहीं सोचा जा सकता; इसे अविकार्य कहते हैं, अर्थात् इसमें किसी भी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता, या कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसा जानकर तुझे शोक नहीं करना चाहिए। २-२५

It is declared about it that it is unmanifest, incomprehensible and immutable. Knowing it as such you should not grieve. (II-25)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।

हे अर्जुन! जो आत्मा इस प्रकार प्रत्येक के शरीर में रहता है, वह नित्य है, सदा बना रहता है, और अवध्य है, उसे मारा नहीं जा सकता। इसलिए तुझे किसीके भी लिए शोक नहीं करना चाहिए। २-३०

यह बात नहीं कि आत्मा केवल मनुष्यों में होता है, पशुओं में नहीं। सब जीवधारियों और वनस्पतियों में भी वह होता है।

The Soul that thus dwells in the body of everyone is ever-abiding and invulnerable. It is not for you, therefore, to grieve for any creature. (II-30)

It is not as if men have souls and not beasts. All living beings and plants also have souls.

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।।

चर हो या अचर, जो भी वस्तु उत्पन्न होती है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—अर्थात् शरीर और आत्मा—के संयोग से उत्पन्न होती है। हे भरतश्रेष्ठ! यह तू जानले। १३-२६

आत्मा कहाँ रहता है ? क्या वह सिर में है ? हृदय-स्थान में है ? या और कहीं है ? वह तो सर्वत्र व्याप्त है, उसे शरीर के किसी विशेष भाग या इन्द्रिय में नहीं पाया जा सकता।

Whatsoever life is born, fixed or moving, know that it comes to be from the union of body and Soul. (XIII-26)

Where is the Soul lodged? Is it in the head, or in the region of the heart, or somewhere else? It is all-pervading and is not to be located in any particular part or organ of the body.

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥

जिस तरह आकाश सब स्थानों और वस्तुओं में भरा हुआ है, फिर भी सूक्ष्म होने के कारण वह किसी स्थान या वस्तु में लिप्त नहीं होता—वह जिन वस्तुओं में व्याप्त है उनसे प्रभावित नहीं होता। उसी तरह शरीर में सर्वत्र समाये रहने पर भी आत्मा उससे अलिप्त रहता है—देह के गुण-दोषों से वह सर्वथा मुक्त रहता है। १३-३२

As the all-pervading ether is too subtle to be affected by anything it pervades, so abiding everywhere in the body the Self remains unaffected. (XIII-32)

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, हे भारत! वैसे ही क्षेत्री सारे क्षेत्र को—अर्थात् आत्मा समस्त शरीर को—प्रकाशित करता है। १३-३३

As the one sun irradiates the whole earth, so the Soul irradiates the whole body. (XIII-33)

प्रकरण २

कर्म

[अध्याय १५—श्लोक ७—९, अध्याय १३—श्लोक १९—२१]

इस अध्याय में हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि एक ओर जीवात्मा और परमात्मा, तथा दूसरी ओर जीवात्मा एवं भौतिक शरीर के बीच क्या संबंध है। कहा जा सकता है कि, जैसे जीवात्मा शरीर में रहकर उसे प्रकाशित करता है, उसी तरह परमात्मा जीवात्मा में व्याप्त रहकर, उसे प्रकाशित करता है। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि जीवात्मा क्रम से अनेक प्रकार के स्थूल रूप धारण करता है। वह कभी मनुष्य, कभी पक्षी, कभी पशु और वनस्पति भी बन जाता है। इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा भी एक ही समय में अनेक जीवात्माओं के रूप में 'परिणत' हो जाता है, या अनेक जीवात्माएँ 'बन' जाता है। जीवात्मा को विश्वात्मा का अंश भी माना जा सकता है। परन्तु विश्वात्मा ऐसा सर्वव्यापक है कि इस प्रकार अंश बनने से उसकी पूर्णता में कुछ भी अन्तर नहीं आता। यदि जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की बिल्कुल ठीक-ठीक व्याख्या करने के और प्रयत्न किये जायें, तो हमें द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तों की पाण्डित्यपूर्ण मीमांसा में उतरना होगा। भगवद्गीता में इस विषय की मीमांसा नहीं की गई। परन्तु जैसे उपनिषद् इन सब विचारधाराओं के प्रामाणिक ग्रंथ हैं, वैसे ही भगवद्गीता भी है। कर्म के जिस सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा रूप धारण करता है वह इन तीनों विचारधाराओं को मान्य है।

आत्मा का निवासस्थान शरीररूपी कोश है। इसमें इंद्रियाँ और मन भी शामिल हैं। यह कोश स्थूल वस्तुओं से बना हुआ है। आधार भी इसका स्थूल जगत् ही है। मृत्यु होने पर अर्थात् जब आत्मा किसी एक शरीर को छोड़ता है, तब वह अपने साथ के संचित संस्कारों या गुणों के भार को ढो ले जाता है। इन्हीं गुणों के आधार पर दूसरे शरीर में उसका जीवन शुरू होता है। जिस तरह वायु जिन कुंजों से गुजरता है, उनकी सुगंध अपने साथ ले जाता है, उसी तरह आत्मा भी सूक्ष्मरूप में संस्कारों या गुणों को एक जीवन से दूसरे जीवन में ले जाता है।

CHAPTER II

KARMA

[Adhyaya XV—Slokas 7-9. Adhyaya XIII—Slokas 19-21.]

THE relationship of the individual Soul to the Supreme Spirit on the one hand and to the material body on the other is to be gathered from the verses taken up for study now. The Supreme Spirit may be said to dwell within the individual Soul and to irradiate it as even the latter dwells within and illumines the material body. We read in the previous chapter that the Soul successively takes various visible forms and "becomes" man, bird, beast or plant. The Supreme Spirit may be said similarly to "become" or "transform" itself into numerous souls at the same time. The individual Soul may also be looked upon as a fragment of the Universal Spirit, but the trans-

cendental nature of the original is such that fragmentation does not affect its integrity. Further attempts at exact definition of the relationship of the individual Soul to the Supreme Spirit will take us into the learned controversies of Dwaita, Adwaita and Visishtadwaita philosophies. *Bhagavad-Gita* does not discuss this question but, like the *Upanishads,* lends itself as authority to all these schools of thought. The doctrine of *Karma,* the law that governs the individual Soul, is accepted by all the three schools.

The Soul's dwelling place is a casing of body which includes the senses and the mind. This casing is made out of and has its basis in the world of matter. At death, that is, when the Soul departs from one such body, it takes with it a load of character or *Gunas* as developed by the activities so far gone through. This makes the start for the next body. The Soul carries the *Gunas* in subtle form in its passage from one life to another, as the wind takes with it the fragrance from the bowers through which it passes.

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।

मेरा ही सनातन अंश जीवलोक में जीव बन जाता है। वह प्रकृति में रहनेवाली पाँच इन्द्रियों और उनका नियंत्रण करनेवाले मन इन छहों को अपनी ओर खींच लेता है। १५–७

A fragment of Mine own Self becomes in the world of living things an immortal Soul. It

attracts to itself the five senses and a controlling mind, all six established in matter. (XV-7)

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

ईश्वर, अर्थात् जीवात्मा, जब किसी शरीर का स्वामी बनता है, और जब उसे छोड़ता है, तब वह इन्हें (मन और पाँचों इन्द्रियों को) वैसे ही अपने साथ ले जाता है, जैसे वायु सुगंध को एक पुष्प-कुंज से दूसरे कुंज में ले जाती है। १५–८

The Soul, when it takes up lordship over a body and when it leaves it, takes these with it as the wind takes fragrances from bower to bower. (XV-8)

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

वह कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक का, तथा मन का भी आश्रय लेकर उनके विषयों को भोगता है। १५–९

Using the ear, the eye, and the organs of touch, taste and smell, and the mind also, it enjoys the objects of the senses. (XV-9)

इन्द्रियों के विषयों का यही सम्पर्क और उनके प्रति आसक्ति व आकर्षण आत्मा के साथ सूक्ष्मरूप में जुड़ जाता है, और वह उसका कर्म-भार बनता है। तार्किक की दृष्टि से कार्य के मूल कारण की कोई भी खोज, बिना अपवाद के, अंतिम सत्य के रूप में नहीं हो सकती। पर यदि आत्मा को अमर माना जाय, तो व्यक्तित्व का आधार सनातन आत्मा को माना जाता है। तब हिन्दू-दर्शन का कर्म-सिद्धान्त ही विचार-

जगत् के सबसे निकट हैं; कोई ऐसा सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता, जो उसकी तुलना में अधिक निकट हो।

मनुष्य अपना विकास अपने कर्म के अनुसार ही करता है। विकास का यह क्रम मृत्यु से भंग नहीं होता, वह दूसरे जन्म में भी जारी रहता है। हिन्दू-धर्म का यह सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म-सिद्धान्त नैतिक क्षेत्र में उसी नियम का प्रयोग है, जिसे भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में शक्ति-संचय का नियम कहते हैं। असल में इन दोनों सिद्धान्तों को एक ही नियम के दो पहलू मानना चाहिए। यों भी कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक जगत् में कर्म का नियम चलता है। वहाँ कारण और कार्य का महत्व बराबर ही है। मृत्यु शरीर को ही नष्ट करती है, आत्मा को नहीं। इसलिए जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, कारण और कार्य का नियम मृत्यु के बाद भी जारी रहता है। शरीर की मृत्यु दिवालियों की अदालत–जैसा काम नहीं करती, कि वह आत्मा को कर्मजनित ऋण से मुक्त कर दे, और एक जीवन का हिसाब वहीं बेबाक़ हो जाय। पुराना हिसाब आगे के जीवन में चालू रहता है।

पानी में छोटे-से-छोटा कंकड़ भी फेंका जाये, तो उसमें लहरें उठने लगती हैं। ये लहरें गोल-गोल घेरों में लगातार फैलती जाती हैं। एक लहर दूसरी लहर को काट सकती है, उसमें मिल सकती है, उसे घटा या बढ़ा सकती है, परन्तु जो हलचल पैदा हो गई वह छोटी-से-छोटी भी क्यों न हो, व्यर्थ नहीं जा सकती। इसी तरह, हमारे सब कामों का भी परिणाम अवश्य होता है। कामों में विचार करना भी शामिल है। मन में आया हुआ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और अत्यन्त गुह्य विचार भी विश्वात्मा में एक हलचल पैदा कर देता है। तब उस हलचल को धीरे-धीरे शान्त करना ही एक चारा रह जाता है।

हमारे विचारों और कार्यों का दूसरों पर जो असर होता है, वह

तो होता ही है। उसे हम छोड़ दें। हम यह खयाल भी न करें कि उसके लिए पुरस्कार या दण्ड दिया जाना चाहिए। परन्तु हमारे अपने ऊपर भी तो तुरन्त असर होता है। विचार अच्छा हो या बुरा, उसका परिणाम हुए बिना नहीं रहता। यह हम बिना किसी दार्शनिक सिद्धान्त की मदद के देख सकते हैं। हम चाहें या न चाहें, हमारे मन में उठनेवाला एक-एक विचार हमारे अपने ही चरित्र पर जैसे टाँकी और हथौड़ी से आघात करके अपना गहरा चिह्न बना देता है। हमारे चरित्र का विकास उसीके अनुसार अच्छा या बुरा होता है। यदि आज मैं कोई बुरा विचार करता हूँ तो कल उसे अधिक सरलता और हठ के साथ करूँगा। यही बात अच्छे विचारों के बारें में भी है। अगर मैं अपने आपको संयत या शान्त कर लूँ तो अगली बार ऐसा करना अधिक स्वाभाविक और सरल हो जायेगा। यही क्रम उत्तरोत्तर चलता है। हिन्दू-दर्शन बताता है कि मनुष्य के विचारों, कार्यों और प्रायश्चित्तों से जो संस्कार बनते हैं वे उसकी मृत्यु के बाद भी आत्मा से चिपटे रहते हैं। आत्मा की दूसरी यात्रा का आरम्भ उनके ही आधार पर होता है।

कर्म भाग्य पर आश्रित नहीं है। वह व्यक्तिगत प्रयत्न को व्यर्थ कर देनेवाली कोई निरंकुश और बाहरी शक्ति नहीं है। इसके विपरीत, कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का विकास पूर्णतः उसके अपने ही प्रयत्नों पर निर्भर करता है। मृत्यु भी उन प्रयत्नों की प्रगति के आड़े नहीं आती। हम सातवें और आठवें अध्याय में कर्म-सिद्धान्त के इस पहलू पर अधिक विचार करेंगे।

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य को माता-पिता की शारीरिक विशेषताएँ और मानसिक विकास के गुण और दोष विरासत में मिलते हैं। पर यह आनुवंशिकता कर्म-सिद्धान्त से भिन्न अर्थ रखती है।

आनुवंशिक शरीर की रचना तो हो सकती है, परन्तु आत्मा की नहीं। आत्मा के माता-पिता नहीं होते। वह स्वयंभू है। आत्मा अपनी पात्रता के अनुसार किसी भी शरीर में रह सकता है। जैसे कोई इंजीनियर एक-से या कई प्रकार के मकान बनाये और नागरिक अपने रहने के लिए उनमें से किसी भी मकान को, अपनी आवश्यकता के अनुसार, चुन ले, वैसे ही प्राणियों के शरीर जीवात्माओं के रहने के केवल मकान हैं। मकान में रहनेवाला चाहे तो अपने मकान को सुधार सकता हैं, चाहे तो उसे तोड़-फोड़ भी सकता है। उस मकान में आनेवाला दूसरा आदमी इसलिए उसमें आता है, कि वह उसकी अपनी परिस्थिति के अनुसार अनुकूल पड़ता है। कोई पिता अपने भावी बच्चे का शरीर बिगाड़ सकता है, पर उस बच्चे के रूप में कौन-सा आत्मा आनेवाला है, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उस आत्मा ने कर्मों के अनुसार कितना विकास किया है। जब कोई बच्चा पैदा होता है, तब ऐसा मालूम होता है कि उसमें उसके माता-पिता की शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ उतर आई हैं। परन्तु वास्तव में वह अपने साथ लाता है अपने पूर्वजन्म के संचित कर्म। उन्हीं के कारण वह ऐसे माता-पिता के पुत्र का शरीर पाता है। औरस पुत्र केवल शरीर के नाते औरस होता है। जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, औरस पुत्र भी दत्तक पुत्र के समान है, ऐसा कहना चाहिए। अनुवंश या उत्तराधिकार के सिद्धान्त से कर्म-सिद्धान्त के मार्ग में न तो कोई बाधा आती है, और न वह अनावश्यक ही ठहरता है।

इस सम्बन्ध में ऊपर १५ वें अध्याय के ७, ८ और ९ श्लोक उद्धृत किये जा चुके है। नीचे का यह श्लोक भी अध्ययन के लिए उपयोगी हैं:

It is this contact with the objects of the senses, and the attractions and attachments thereto that

in subtle form hang on to the Soul and become its *Karmic* load. No explanation or theory in regard to the ultimate cause of things can be free from objections or difficulties from the rationalist point of view. But, on the assumption of an immortal Soul as the basis of personality no theory can be formulated more in conformity with the known laws of nature than the Hindu doctrine of *Karma*. Man evolves himself exactly according to his actions, the process being unbroken by death and passing on to the next life. This, the most important doctrine in Hindu religion, is the application in the moral sphere of the law of conservation of energy, and indeed both may be looked upon as parts of one law. *Karma* is the rule of the law, so to say, in the spiritual world. Cause and effect must be equivalent. As death is only disintegration of the body, and not of the Soul, the law of cause and effect, so far as the Soul is concerned, continues to operate beyond death. The death of the body does not operate as a bankruptcy court. The old account is carried over.

The tiniest pebble thrown into water produces a ripple. The disturbance is carried onward in ever-widening circles on the water. One ripple may cut across, add itself to, and be merged in another, increasing or reducing it, but not the tiniest movement can go for naught. Likewise also do all our acts—and acts include thoughts—produce results. The most transient and secret

thought entertained in the mind ruffles the calm of the Spirit Universal, and the disturbance has to be worked off.

Over and above the effect on others and apart from any question of reward or punishment, we can see, without the help of any doctrine, that every thought or act, good or bad, has at once an effect on oneself. Every motion of the mind deals a stroke with chisel and mallet, whether one wants it or not, on one's own character and its evolution is made better or worse thereby. If I think evil today, I think it more readily and persistently tomorrow and likewise is it with good thoughts. If I control or calm myself, it becomes more spontaneous, more easy next time; and this goes on progressively. At death, the Hindu doctrine says, whatever character has been hammered out by the thoughts and deeds and repentances of the life that is closed continues to attach itself as the initial start of character for the Soul in its next journey.

Karma is not Fatalism. It is not an arbitrary and external agency which makes personal effort of no avail. On the contrary, the theory places one's evolution in one's own hands completely, and even death does not interfere with the progress of effort. We shall revert to this aspect of *Karma* in Chapters VII and VIII.

It is well known that physical characteristics and mental traits are passed on from parents to

children. This heredity does not explain what is sought to be explained by the law of *Karma*. Bodies are shaped by heredity, but not souls. The Soul has no father or mother, but is self-existent. Any Soul may be lodged in any body in which it has earned the fitness to function. Bodies are only the tenements provided for souls even as engineers may build in similar or varying types for citizens to choose and live in, according to their needs. A house may be improved or even damaged by the occupant. The next person who comes into the tenements does so because it suits his own condition. A father may ruin the coming son's body, but which soul is to come as that son depends on the stage reached in the *Karmic* evolution of that soul. When a son is born to parents he appears to inherit their physical and mental characteristics, but in reality what he inherits is his own previous life's accumulation, by reason of which he is embodied as son to such parents. The *aurasa* son is such only in the physical body. In the soul, even an *aurasa* son is, so to say, but an adopted son. The law of heredity does not dispense with or interfere with the operation of the law of *Karma*.

Besides XV-7, 8 and 9 already quoted the following *Slokas* may be studied in this connection:—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि समझ, और यह भी जान ले कि सभी विकार—अर्थात् सब स्थूल रूप, तथा प्रत्यक्ष दीखने-वाली वस्तुएँ और गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। १३–१९

Know that matter and Soul are both without beginning; and that all material forms, phenomena and qualities come out of matter. (XIII-19)

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

कारण और कार्य की उत्पत्ति प्रकृति से हुई हैं। परन्तु उनकी उत्पत्ति का कारण पुरुष अर्थात् आत्मा है, और वही सुख और दुःख को भोगता है। १३–२०

Out of material nature are produced the means and effects; but the Soul has brought them about and reaps the pleasure and pain. (XIII-20)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

प्रकृति में स्थित आत्मा प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। भोग के प्रति उसकी आसक्ति ही उसके अच्छी-बुरी योनि में जन्म लेने का कारण बन जाती है। १३–२१

The Soul established in matter enjoys the qualities born of matter; attachment to this enjoyment is the cause of its births in good and evil wombs. (XIII-21)

प्रकरण ३

ईश्वर और प्रकृति

[अध्याय ७–श्लोक ४–१४, २५ और २७। अध्याय ९–श्लोक ४–६, ८, १० और १६–१९। अध्याय १५–श्लोक १६–१८]

जीवन कैसे व्यतीत किया जाये, इस सम्बन्ध में गीता-दर्शन पर विचार हम अगले अध्याय में विस्तार से करेंगे। यहाँ जरा-सा रुकना और इस विषय पर विचार कर लेना उचित होगा कि हिन्दू-दर्शन में विश्व के रहस्य को किस रूप में समझाया गया है। यह विश्व सचमुच एक बहुत बड़ा रहस्य है, जिसे अच्छे-अच्छे विचारक देखते हुए भी ठीक तरह से समझ नहीं पाते। जब से मनुष्य ने गंभीरतापूर्वक सोचना शुरू किया, तभी से यह पहेली उसे उलझन में डाले हुए है। भविष्य में भी सदा यह विरोधाभास का एक ऐसा पुतला ही बना रहनेवाला है, जो मानव-बुद्धि के परे है। इस विषय पर गीता के सातवें, नवें और पन्द्रहवें अध्यायों के कुछ श्लोकों का अध्ययन करना होगा।

सृष्टि का भौतिक रूप प्रकृति के समस्त भौतिक तत्त्वों के योग से बना है। इन तत्त्वों में जीवधारियों के भौतिक शरीर और उनकी इंद्रियाँ और मन तथा बुद्धि भी शामिल हैं। इन सब तत्त्वों को सृष्टि के सदा विकार-शील रूप को गढ़नेवाले तत्त्वों के रूप में यदि एकसाथ मिला लिया जाये, तो वही 'प्रकृति' कहलायेगी। अर्थात् प्रकृति इन सब तत्त्वों का समष्टिरूप है। चेतन सृष्टि में आत्मा का निवास होता है। वह प्रत्येक प्राणी में रहता हुआ उसे चेतनता प्रदान करता है। इस

सब के पीछे भी परमात्मा है। उसीकी शक्ति प्राणी के जीवन में दिखाई देनेवाले विकारों का नियंत्रण करती है। वह प्रत्येक वस्तु में रहता है, और उसका धारण और संचालन करता है। फिर भी वह सब से अलग है।

सृष्टि प्रकृति के अटल नियमों के अनुसार ही चलती है। प्रकृति के नियम या विधान और कुछ नहीं, परमपुरुष की इच्छा के प्रकटरूप हैं। परमेश्वर सम्पूर्ण रूप में, और परमेश्वर के रूप में, दिखलाई नहीं पड़ता। हम उसका जो अंश देखते हैं उसे भौतिक और नैतिक नियम कहकर संतोष कर लेते हैं, और हमारा जीवन ऐसे आगे बढ़ता जाता है, मानों वह परमेश्वर से बिलकुल स्वतंत्र हो।

CHAPTER III

GOD AND NATURE

[Adhyaya VII—Slokas 4-14, 25 and 27. Adhyaya IX—Slokas 4-6, 8, 10 and 16-19. Adhyaya XV—Slokas 16-18.]

WE shall continue in the next chapter our study of the *Gita*-teaching as to how to live. It will be helpful to pause here to contemplate on the Hindu interpretation of the riddle of the Universe, the great "open secret" which has baffled man ever since he began to think deeply, and which must ever remain an insoluble paradox. This involves a study of the 7th, 9th and 15th *Adhyayas* of the *Gita*.

All the physical elements of nature, including the material bodies of animate beings and their

sensory and mental functions, may be grouped together forming the ever-changing physical aspect of the universe. This is called *Prakriti* (प्रकृति). Behind the animate is the soul that dwells within each being and animates it. Behind all again is the Supreme Being whose power it is that holds together all the changes visible in one organic existence. He dwells within and supports and moves everything, but exists apart from all.

The universe moves according to what are known as the laws of nature. This code of nature is but the manifestation of the Supreme Will. God Himself is not seen as such and as a whole. What we see of Him we are content to call by the name of physical and moral laws, and life proceeds as if wholly independent of God.

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार–इन आठ रूपों में मेरी प्रकृति बँटी हुई है । ७–४

Earth, water, fire, air, ether, thought, reasoning and consciousness of individuality—these are eightfold divisions of My nature. (VII-4)

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।

तू इसे जान ले कि मेरी बताई हुई यह भौतिक प्रकृति मेरी अपरा प्रकृति है, अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रकृति है; इससे भिन्न मेरी परा प्रकृति है, जो उच्च श्रेणी की है।

हे महाबाहो, वह जगत् को धारण करनेवाली मेरी जीवरूपी प्रकृति है। ७–५

This physical nature that I have described is My inferior manifestation. My other and higher nature is the life-principle by which the universe is upheld. (VII-5)

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

तू यह समझ रख कि ये दोनों सभी प्राणियों के उत्पन्न होने के गर्भाशय हैं। सारे जगत् का मूल और अन्त मैं ही हूँ। ७–६

Understand that these two constitute the womb of all beings. I am the origin of the whole universe and that into which it dissolves. (VII-6)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनंजय! मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। धागे में पिरोये हुए मणियों के समान यह सारा जगत् मुझमें पिरोया हुआ है।

प्रकृति की सब वस्तुएँ और सारे प्राणी परमेश्वर पर अवलंबित हैं, यह नीचे के चार श्लोकों में बताया गया है। ७–७

There is naught whatever beyond Me All this universe hangs together on Me, as pearls on a string. (VII-7)

The dependence of all things and beings in Nature on the Supreme Spirit is illustrated in the following four *slokas:*

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥

हे कौन्तेय! जल में रस मैं हूँ, सूर्य और चन्द्र में प्रकाश मैं हूँ, सब वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुषों में पौरुष मैं हूँ। ७–८

I am the taste in water, I am the radiance in the sun and the moon, I am the sacred OM in all the Vedas; I am sound in space; I am virility in men. (VII-8)

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥

पृथ्वी में सुगंध और अग्नि में तेज मैं हूँ। सब प्राणियों में जीवन और तपस्वियों में तप मैं हूँ। ७–९

I am the sweet fragrance of the earth and the heat in the fire: the life in all beings, the austerity in ascetics. (VII-9)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

हे पार्थ! सब प्राणियों का सनातन बीज तू मुझे ही जान। बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, और तेजस्वियों का तेज भी मैं ही हूँ। ७–१०

Know Me as the seed primeval of all being. I am the *buddhi* of the wise, the splendour of the illustrious. (VII-10)

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।

बलवानों का, वासना और आसक्ति से रहित, बल मैं हूँ। और हे भरतश्रेष्ठ, जब धर्म के विरुद्ध न हो तब सब प्राणियों को स्फूर्ति देनेवाला काम भी मैं ही हूँ। ७-११

I am the strength of the strong, when it is untainted by desire and passion. I am Love that moves all beings, when it is not against *Dharma.* (VII-11)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ।।

ये जो सात्त्विक, राजस और तामस भाव हैं, सब मुझसे ही हुए हैं। मैं उनसे प्रभावित नहीं होता, परन्तु वे मुझसे हैं। ७-१२

Know that purity, passion and inertia are all from Me. I am not affected by these conditions, but they rest in Me. (VIII-12)

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।

यह सारा जगत् इन तीन प्रकार के भावों से मोहित है, इसलिए वह इनसे परे मुझ अव्यय (अविनाशी) को नहीं जानता। ७-१३

All this world, deluded as it is by the play of these three conditions, ignores Me, who transcend these and am ever-abiding. (VII-13)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

मेरे द्वारा संचालित और गुणों पर आधार रखनेवाली इस दैवी माया को पार करना कठिन है, परन्तु जो मेरी शरण में आते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं। ७–१४

This divine *maya*, operated by Me and founded on the play of qualities, is hard to overcome; but they who seek refuge in Me cross over this illusion. (VII-14)

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

मैं अपनी योगमाया से आच्छादित हूँ, इसलिए सबको दिखलाई नहीं पड़ता। यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा और अविनाशी को नहीं जानता। ७–२५

I am concealed from view by this illusion of creative activity. This ignorant world does not know Me, who have neither birth nor ending. (VII-25)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्वे यान्ति परन्तप ॥

हे भारत! इच्छा और द्वेष से पैदा होनेवाले द्वंद्व के मोह से इस जगत के सारे ही प्राणी, हे परंतप! भुलावे में पड़े घूमते रहते हैं। ७–२७

Deceived by the opposing forces of attraction and repulsion, all creation lives and moves in delusion. (VII-27)

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

सभी प्राणियों में दो तत्त्व या पुरुष होते हैं–एक क्षर है, जो बदलता रहता है, और दूसरा है अक्षर, जिसका परिवर्तन नहीं हो सकता। सारे प्राणियों के शरीर क्षर हैं, और उनके कूट में अर्थात् मूल में रहनेवाले अव्यक्त तत्त्व को या अधिष्ठाता आत्मा को अक्षर कहा जाता है। १५–१६

There are two elements in all beings, the one changing and the other unchangeable. All animate form is *Kshara*, the *Akshara* is the presiding spirit. (XV-16)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

उत्तम तत्त्व या पुरुष इनसे भिन्न है। वह 'परमात्मा' कहलाता है। वह अविनाशी प्रभु तीनों लोकों में व्याप्त होकर उनका धारण-पोषण करता है। १५–१७

The highest principle is, indeed, to be distinguished, described as the Supreme Self, He who pervades and sustains the three worlds, the Eternal Lord. (XV-17)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम होने के कारण लोक-व्यवहार में और वेदों में भी मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रख्यात हूँ। १५–१८

Since I transcend the changeable as well as the unchangeable, I am known in common parlance as well as proclaimed in the *Veda* as the Supreme Spirit. (XV-18)

यह सत्य होते हुए भी कि ईश्वर सब का भरण-पोषण और नियंत्रण करता है, हम इससे अनभिज्ञ हैं, क्योंकि हम स्वयं और हमारी सारी कल्पना, विचार, बुद्धि और भावनाएँ उसके ही नियंत्रण में हैं। प्रकृति के नियम या विधान निस्संदेह उसकी इच्छाएँ हैं। हमें जो कुछ प्रत्यक्ष में या खोज से दिखलाई पड़ता है, पर जिसे हम सत्य अथवा प्रकृति का नियम कहकर पुकारते हैं, वही परमात्मा की इच्छा का प्रकटरूप है। परमेश्वर ही नियम है, और नियम ही परमेश्वर है। वह नियम के द्वारा शासन करता है। परन्तु दिखलाई ऐसा पड़ता है, मानों नियम ही शासन करता हो, स्वयं परमेश्वर नहीं। दोनों भिन्न नहीं हैं, उनमें भिन्नता कभी हो नहीं सकती।

नीचे का दृष्टान्त ईश्वर की इच्छा और प्रकृति के नियमों की अभिन्नता स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है:

मान लीजिए, कोई जादूगर एक तालाब को रचता है। उसमें मछलियाँ और दूसरे जलचर पैदा कर देता है, जिनमें थोड़ी-सी बुद्धि भी है। मछलियों को तो वह पानी, वह तालाब और अपने जीवन की सब परिस्थितियाँ 'प्राकृतिक' ही माननी होंगी। उन्हें क्या पता कि वह सब जादूगर की इच्छा का खेल है, और वे स्वयं भी उसकी इच्छा से ही पैदा हुई हैं। अगर जादूगर पानी को पैदा न करके मिट्टी का तेल और उसमें मछलियाँ उत्पन्न करता और यदि अंतरे दिन मिट्टी का तेल पानी में और पानी को मिट्टी के तेल में बदलता रहता, तो भी समझनेवाली मछलियाँ तो यही समझतीं कि यह सब 'प्राकृतिक' है। उन्होंने जो कुछ देखा होता, उस सबका संश्लेषण करके मन-ही-मन उसे प्राकृतिक नियमों का रूप दे दिया होता। असली रचयिता और नियामक को वे जानतीं ही नहीं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति के नियम, ईश्वर की इच्छा के प्रकटरूप होते हुए भी, ईश्वर को छिपाये रहते हैं।

परन्तु ईश्वर का शासन इतना पूर्ण है कि यद्यपि वह स्वयं रंगभूमि से अन्तर्धान रहता है, फिर भी नियम में सदा विद्यमान रहता है। ईश्वर की इच्छा जगत् की प्राकृतिक सर्जन-शक्ति और नियम के श्रेष्ठ शासन के रूप में लगातार काम करती रहती है। उसके पहले रूप को सातवें अध्याय के २५ वें श्लोक में 'योगमाया', और दूसरे रूप को नवम अध्याय के ५ वें श्लोक में 'योगम् ऐश्वरम्' कहा गया है। जीवन में जो तरह-तरह के परिवर्तन और जटिलताएँ दिखाई देती हैं, उनमें आरंभ से अंत तक परमेश्वर ही काम करता है।

Notwithstanding the fact that God supports and governs all, we are ignorant of it, as the process of His governance is inclusive of ourselves and all our perceptions, thoughts, reasonings and emotions. The laws of nature *are* the will of God. His will is manifested in the shape of what we see directly or by investigation but which we choose to call by the name of Truth or Law of Nature. God is the Law, and the Law is He. He rules through the Law, and it seems as if the Law rules and not He. The two are not different, nor can there ever be a variation between them.

The following analogy may serve to explain this identification of the will of God with the laws of nature.

Suppose a magician creates a tank of water and by the same magic fills it with fish and other aquatic animals with some understanding though limited. The fish must take the water and the tank and all the conditions of their life in the

magic tank as "natural", and do not know that it is all but the magician's will, quite as much as they themselves are the will of the magician. Even if he had created, not water and fish, but kerosene and fish living therein, and even if the kerosene changed into water and the water into kerosene on alternate days, the knowing fish would have taken it all as "natural" and made a synthesis of all that they observed, and mentally codified it into a body of natural laws. They would be incognizant of the real author and controller. In the same way do the laws of physical nature hide God, though they are but the manifestation of His will. So perfect is His rule that He disappears from the scene, but He is ever present in the Law itself.

The will of God acts as the continuous natural creative force of the world, *Yoga-Maya,* as it is termed in VII-25, and the untranscendable rule of Law, described as *Yogam Aisvaram* in IX-5. It is God that works throughout all the seeming phases and complexities of life.

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।।

मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस सारे जगत् को फैलाया या व्याप्त किया है। सभी प्राणी मुझमें हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ । ९–४

All this world is pervaded by Me in form unmanifest; all beings abide in Me, but I stand apart from them. (IX-4)

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽत्मा भूतभावनः ।।

और सब मुझमें नहीं भी हैं–देख, कैसा है मेरा यह योगबल। मैं सबको उत्पन्न करनेवाला और उनका पालन करनेवाला हूँ; फिर भी उनमें नहीं हूँ। ९–५

And yet beings are not rooted in Me. Behold the scheme of My sovereignty; Myself, the origin and the support of beings, yet standing apart from them! (IX-5)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य 'विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।

प्रकृति का, जो मेरी ही है, उपयोग करके में बार-बार रचता हूँ इस समस्त भूत-समूह को, जो प्रकृति के वश में होने के कारण परतन्त्र है । ९–८

Using Nature, which is Mine own, I create again and again all this multitude of beings dependent on and bound by nature. (IX-8)

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।

मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इसी कारण, हे कौन्तेय ! जगत् के बनने-बिगड़ने का चक्र घूमता रहता है। ९–१०

Under My over-seeing eye, Nature brings forth the moving and the unmoving and keeps the world rolling on. (IX-10)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥

बलि मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, श्राद्ध द्वारा पितरों को अर्पित किया हुआ अन्न मैं हूँ, वनस्पतियाँ मैं हूँ। मैं मंत्र हूँ, घृत हूँ, अग्नि हूँ और आहुति भी मैं ही हूँ। ९–१६

I am the sacrifice; I am the rite; I am the ancestral offering; I am the herb, the *mantra*, the butter, the fire and the offering. (IX-16)

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥

मैं इस जगत् का पिता हूँ, माता, धाता अर्थात् आधार और पितामह मैं हूँ; जो कुछ पवित्र और जाननेयोग्य है, वह, और ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। ९–१७

I am the Father of this world, the Mother, the Supporter, the Grandsire, the Holy One to be known, the OM, and also the *Rik*, *Saman*, and *Yajus*. (IX-17)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥

सबकी गति, सबका पोषक, साक्षी, निवास, शरण, सखा, और सबकी उत्पत्ति, लय, स्थिति, आगार और अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ। ९–१८

The Path, Protector, Lord, Witness, Abode, Asylum, Friend, Origin, Dissolution, Foundation, Treasure, Seed imperishable. (IX-18)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।

मैं गरमी देता हूँ, वर्षा के जल को मैं ही रोक रखता और फिर बरसाता हूँ। हे अर्जुन ! मैं अमरता हूँ और मृत्यु भी, मैं सत् हूँ और असत् भी। ९–१९

अनुवर्ती श्लोक में अपरिवर्तनशील नियम के सदा वर्तमान निर्बन्धन की अभिव्यक्ति पायी जाती है, यद्यपि उस सीमा में प्राणी कार्य करने को स्वतंत्र हैं।

I send heat; I hold back and pour down the rain; I am immortality and I am also death; I am being, and I am also non-being. (IX-19)

The following *sloka* expresses the ever present restriction of the unchangeable law, though within that limitation beings are free to act:

यथाऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।

जिस तरह महान् वायु सब जगह बहती हुई भी सदा आकाश में स्थित रहती है, उसी तरह समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, ऐसा तू जान।

Reflect on this that as the mighty air everywhere moving is yet fixed in Space, even so all beings are dependent on Me. (IX-6)

प्रकरण ४

कर्तव्य कर्म

[अध्याय २–श्लोक ४७, ४८, अध्याय ३–श्लोक ३–९,२०,२१, २५–२९,३३, अध्याय ४–श्लोक, १६,१८,१९,२२,३१–३३,३७,३८, ४१,४२, अध्याय ५–श्लोक ४,७,११, अध्याय ६–श्लोक १,२, अध्याय १८–श्लोक २,७,९,११,५६,५७]

अब हम भगवद्गीता की नैतिक शिक्षा पर आते हैं। अतीतकाल के लिए आदर, और प्राचीन परंपरा का आग्रह हिन्दू-विचारधारा की विशेषता है। इसे प्रतिगामी कट्टरता समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। हिन्दू-विचारधारा में प्राचीनता का आग्रह इतना स्पष्ट होने पर भी उससे अधिक सहिष्णुता, विचार-स्वातंत्र्य या सत्य के प्रति वैज्ञानिक मनोवृत्ति का आदर किसी दूसरे धर्म में नहीं है। हिन्दू-धर्म दूसरे प्रचलित धर्मों के समान ही बढ़ा और विकसित हुआ है। उसमें सदा ही विविध प्रकार की अत्यन्त साहसपूर्ण कल्पनाएँ प्रकट की गई हैं। ऋषि-मुनियों ने सत्य को जिस-जिस रूप में देखा उसके अनुसार विविध हिन्दू-धर्मग्रंथों में उसके भिन्न-भिन्न रूपों पर जोर दिया गया है। गीता में एक ऐसे नीतिशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है, जो हिन्दू-धर्म के प्राचीन स्वरूप—केवल कर्मकाण्ड—पर श्रद्धा रखने से आगे तो है ही, केवल निवृत्तिप्रधान संन्यासमार्ग से भी आगे है।

गीता में इस बात पर जोर दिया गया है कि जगत् का सारा काम बराबर चलता रहना चाहिए। सत्पुरुष अपने ऊपर आये हुए और अपनी सामाजिक परिस्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले सब काम बराबर

करता रहता है। बाहरी तौर पर वह सारे काम दूसरों की तरह ही करता है, परन्तु मन में उनसे वह अलिप्त रहता है। वह हर काम निःस्वार्थ भाव से करता है, और सफलता और असफलता, सुख और दुःख, हर्ष और शोक में अपने मन का संतुलन बनाये रहता है। इस प्रकार विशुद्ध होकर नित्य ध्यान, प्रार्थना और भक्ति के द्वारा वह अधिक उन्नति कर सकता है, और अन्त में 'अपने-आप को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को परमात्मा में देखने लगता है।' दुनिया का सारा व्यवहार चलाते हुए इस प्रकार का समर्पित जीवन बिताना ही 'योग' है।

सही तौर पर कर्म करते रहने में ही सच्चा त्याग है। त्याग कर्म का नहीं, किन्तु स्वार्थ-कामना का करना चाहिए। हमें अपनी प्रवृत्तियों पर जड़ी हुई स्वार्थ की बेड़ियाँ तोड़कर फेंक देनी चाहिए। सारे ही कर्म कर्तव्य के भाव से हम करें और उनके परिणाम से मन में न सुख हो, और न दुःख। यह निष्काम अलिप्त भावना सब काम करते हुए भी विकसित की जा सकती है, और की जानी चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से उन्नति की बहुत ऊँची सीढ़ियों पर पहुँचने के बाद कर्मयोग-मार्ग और संन्यास-मार्ग के बीच का अन्तर मिट जायेगा।

CHAPTER IV

RIGHT ACTION

[Adhyaya II—Slokas 47, 48. Adhyaya III—Slokas 3-9, 20, 21, 25-29, 33. Adhyaya IV—Slokas 16, 18, 19, 22, 31-33, 37, 38, 41, 42. Adhyaya V—Slokas 4, 7, 11. Adhyaya VI—Slokas 1, 2. Adhyaya XVIII—Slokas 2, 7, 9, 11, 56, 57.]

WE shall now revert to the ethical teachings of the *Bhagavad-Gita*. Reverence for the past and

the spirit of conservatism that characterize Hindu thought should not be mistaken for unprogressive rigidity. In spite of its undoubted conservatism, in no other religion is there greater elasticity, freedom of thought, or scientific respect for truth. Hinduism has grown and evolved like every other living body of thought and faith. It has always displayed the boldest varieties of conception. Various Hindu scriptures emphasise various aspects of the truth as the Hindu elders saw it. The *Gita* evolves an ethic in advance not only of belief in mere ceremonial observances, the earlier phase of Hinduism, but also of the recluse's life of mere abstention.

The *Gita* emphasises that the activities of the world must go on. The good man does the tasks to which he is called and which appertain to his place in society. In all his activities, he does things like others outwardly; but inwardly he maintains a spirit of detachment. He does everything without selfish motive, and maintains equilibrium of mind in success and failure, pleasure and pain, joy and sorrow. Purified thus, the good man is qualified for further progress by constant meditation, prayer and devotion, and finally he "sees himself in everything and everything in God." *Yoga* consists in living this dedicated life in the midst of worldly affairs.

There is true renunciation in right action. What we should renounce is not action, but selfish

desire. We should liberate our activities from the bondage of selfish purpose. Work should be done in a spirit of duty done, and results should not be permitted to agitate the mind. This unselfish and detached attitude can and should be cultivated even while we are engaged in life's activities. Continual practice of this attitude of mind will lead, in the higher stages of progress, to the elimination of the difference between the way of *Yoga* and the way of *Sannyasa*.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।

क्या कर्म है और क्या अकर्म इस विषय में विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है। इसलिए मैं तुझे ऐसा कर्म बताता हूँ, जिसे जान लेने पर तू पाप से मुक्त हो जायेगा। ४–१६

What is action, what is inaction? Even the wise are perplexed over this. Therefore I shall explain to you how to act, knowing which you will be saved from evil. (IV-16)

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

जो कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में सच्चा बुद्धिमान है, सब कर्म करता हुआ भी वह योगयुक्त अर्थात् योगी है। ४–१८

He who perceives inaction in action and action in inaction, has among men attained real

knowledge; even while performing all action, he is doing *Yoga*. (IV-18).

कर्म में अकर्म देखने का अर्थ है—अपने नियत या ग्रहण किये हुए कर्म करते-करते ही स्वार्थ-कामना त्यागने के सिद्धान्त को समझ लेना, और उसे पूरा करना। अकर्म में कर्म देखन का अर्थ है—यह समझना कि बाहरी निग्रह से ही मन की शुद्धि नहीं हो जाती, और फिर अभ्यास द्वारा मन की इच्छाओं पर काबू पाना।

ये दोनों पहलू चौथे अध्याय के ४१ वें श्लोक में फिर से समझाये गये हैं। जो कर्म स्वार्थ-भावना छोड़कर किये जाते हैं, वे निःशेष हो जाते हैं।

To perceive "inaction" in "action" is to understand and carry out the principle of renunciation of selfish desires while doing the work allotted to or taken up by one. To perceive "action" in "inaction" is to realize that external abstinence by itself does not amount to purity of mind, and to attain by practice the control of internal desires. This is reiterated in both aspects in IV-41, quoted later.

Activities free from selfish attachments do not leave a *Karmic* residue.

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

ज़िसके सभी समारम्भ अर्थात् उद्योग इच्छा से रहित होते हैं, और जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि से शुद्ध हो जाते हैं, उसीको ज्ञानी पुरुष 'पंडित' कहते हैं। ४–१९

The learned deem him to have realized the truth whose plans are not shaped by desire, and whose actions have been purified in the furnace of knowledge. (IV-19)

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्ध्यते ।।

बिना प्रयत्न के आप-ही-आप जो कुछ मिल जाये, उससे संतुष्ट, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से अलग और ईर्ष्या से रहित, सफलता और विफलता में एक-समान रहनेवाला व्यक्ति कर्म करके भी उनके पाप-पुण्य से नहीं बँधता। ४–२२

Content with what comes to him of itself, having transcended the pairs of opposites, free from hatred, facing with equal composure success and failure, though acting he does not create bonds for himself. (IV-22)

वेदों में यज्ञ का विधान है, परन्तु गीता में साहसपूर्ण, फिरभी सौम्य, व्याख्या के द्वारा यह विचार विकसित किया गया है कि यज्ञ का सार-तत्त्व कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि स्वार्थ-कामना का परित्याग है। गीता बताती है कि वैदिक शिक्षा के सच्चे अर्थ के अनुसार यज्ञों के अनेक रूप हो सकते हैं। सभी यज्ञों में कर्म की आवश्यकता होती है। इस कारण से भी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। उसे कामनाओं के बन्धन से छुड़ाकर यज्ञ का रूप देना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ की व्याख्या को विशद करके गीता में कहा गया है :

Sacrifices are prescribed in the *Vedas*, but, by a bold though gentle process of interpretation, the *Gita* evolves the idea that the essence of sacrifice is not ceremonial but the giving up of selfish

desires. Sacrifices, the *Gita* says, may take various forms according to the true interpretation of the *Vedic* teachings. All sacrifices involve activities. This, again, is a reason why action should not be given up but just liberated from the trammels of desire and shaped into sacrifice. After thus broadening the definition of Sacrifice, the *Gita* says:

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

यज्ञ से बचा हुआ अन्न अमरता प्रदान करता है, उसे खानेवाले सनातन ब्रह्म में जा मिलते हैं। यज्ञ न करनेवाला इसी लोक में कुछ नहीं पाता, फिर परलोक की तो बात ही क्या ? ४–३१

The food that remains after sacrifice gives immortality. Those who eat it go to the changeless Brahma. He who does not sacrifice gains nothing even in this life; not to speak of the life beyond. (IV-31)

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

इस प्रकार, वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है। उनमें से साधक अपने लिए कोई भी यज्ञ चुन सकता है। ये सब कर्म से ही साधे जाते हैं, यह तू जान ले। इससे तू कर्म-बन्धन से छूट जायेगा। ४–३२

Many and various are the sacrifices thus spread out in the *Vedas* for the aspirant to choose. Know that all these come from action;

knowing this you can free yourself from bondage. (IV-32)

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

हे परन्तप! भांति-भांति के द्रव्यों से किये जानेवाले कर्मकाण्डी यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि, हे पार्थ! सब कर्मों की परिसमाप्ति ज्ञान में ही होती है। ४—३३

Better than ritualistic sacrifice that is performed with various articles prescribed therefor is the sacrifice the chief ingredient of which is right knowledge. All prescribed actions attain their complete fulfilment only in true knowledge. (IV-33)

कर्मों के प्रति तटस्थता या अनासक्ति का भाव लाने में ही ज्ञान प्रकट होता है। 'जानकारी' या 'बुद्धिमत्ता' इन शब्दों से ज्ञान का पूरा अर्थ प्रकट नहीं होता। उसमें तो यह आवश्यक होता है कि जिस सत्य को मनुष्य ने देखा और समझा है, उसके अनुसार वह अपने-आपमें पूरी विचारक्रान्ति कर ले; अपने-आपको पूरी तरह बदल ले। ऐसी जीवन-क्रान्ति तब होती है, जब मनुष्य बाकी के साथ अपनी, और ईश्वर के साथ सारे जगत् की एकता का साक्षात्कार उत्तरोत्तर करता जाता है। इस क्रान्ति से ही वह साक्षात्कार संभव होता है। जैसे ही मनुष्य स्वार्थ-कामना छोड़कर कर्म करने लगता है, वैसे ही वह कर्म-बन्धनसे मुक्त और पाप-रहित हो जाता है। नीचे के श्लोकों में इसे स्पष्ट किया गया है:

Jnana (ज्ञान) manifests itself in the cultivation of a detached attitude in all work. *Jnana* is not

fully expressed by "knowledge" or "wisdom." It involves a complete transformation of oneself in accordance with the truth that is seen. Such transformation results from and at the same time leads to progressive realisation of one's unity with the rest of the world and of the whole world with God. Action becomes free and sinless once the motive of action is freed from selfish aims. This is vividly explained in the following *slokas:*—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।

हे अर्जुन! जिस तरह जलती हुई अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी तरह ज्ञान की अग्नि सारे कर्मों को भस्म कर डालती है। ४–३७

Burning fire reduces the wood to ashes; even so does the fire of knowledge reduce all action to ashes. (IV-37)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला और कुछ भी नहीं। जो निःस्वार्थ भाव से कर्म करने का अभ्यास पूरा कर लेता है, वह समय आने पर उस ज्ञान को अपने ही अन्दर पा सकता है। ४–३८

There is no purifier in this world like knowledge; he that perfects his practice of selfless action finds that knowledge in himself in due time. (IV-38)

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।।

जो मनुष्य कर्म करता हुआ भी योग का आश्रय लेकर कर्म-बन्धनों को त्याग देता है, जिसने ज्ञान से अपने सब संशय नष्ट कर लिये हैं; और, हे धनंजय! जो अपने-आप पर सदा चौकसी रखता है, उस पुरुष को कर्म बाँध नहीं सकते। ४-४१

The man who while acting yokes his action to renunciation, who has destroyed doubt by knowledge, and who is ever watchful over himself, actions do not bind. (IV-41)

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽत्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।

इसलिए ज्ञान की तलवार से हृदय में बसे हुए इस अज्ञान से उत्पन्न संशय को काटकर योग में तू स्थित होजा। भारत! उठकर खड़ा होजा। ४-४२

Therefore with the sword of knowledge destroy this ignorance-born doubt that dwells in your heart, and stand up, established in *Yoga*. (IV-42)

इस प्रकार, संन्यास और कर्त्तव्य-कर्म के मार्गों में कोई सच्चा अन्तर नहीं है। सच्चा संन्यास और सम्यक् रीति से कर्म करना दोनों एक ही बात हैं। दोनों का सार स्वार्थ-कामनाओं को छोड़ना ही है।

Thus, there is no real distinction between the way of renunciation and the way of duty performed. True renunciation and true performance

of work are identical, the essence of both being the giving up of personal desire.

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।

सांख्य और योग दोनों अलग-अलग हैं ऐसी बात तो मूर्ख कहते हैं, पंडित नहीं। जो दोनों में से एक में भी भलीभाँति स्थित हो जाता है, उसे दोनों का ही फल मिलता है। ५–४

Children, but not those who know, speak of the *Sankhya* and the *Yoga* as different; he who is duly established in either obtains the fruits of both. (V-4)

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।

जो कर्म-फल का सहारा छोड़कर कर्त्तव्य के तौर पर कर्म करता है वह संन्यासी भी है, और योगी भी; न कि वह, जो गृहस्थी की, अग्नि को (कर्त्तव्य कर्मों को) छोड़कर निकम्मा बैठा रहता है। ६–१

He that performs such action as is his duty, not looking forward to the fruit of such action, is a *Sannyasi* as well as a *Yogi*, not he that gives up the household fire and sits inactive. (VI-1)

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।

हे पाण्डव! जिसे संन्यास कहा जाता है, उसे ही तू योग जान। जिसने अपने संकल्पों अर्थात् अपनी योजनाओं और इच्छाओं को नहीं छोड़ा, वह योगी नहीं हो सकता। ६–२

That which is called renunciation, know that as *Yoga*, no one can become a *Yogi* who has not renounced plans and desires. (VI-2)

यदि मनुष्य एकबार स्वार्थ-कामनाओं से छुटकारा पा गया, उसने सारी सृष्टि की एकता का अनुभव कर लिया और इसके फलस्वरूप उसमें अनासक्ति की सही दृष्टि विकसित हो गई, तो वह संन्यासी है, भले ही वह सब प्रकार के सामाजिक कार्यों में लगा रहता हो।

Once personal desire is got rid of, and the unity of all existence is realized, and, as a result thereof, the correct attitude of detachment is developed, one is an ascetic, even though engaged in all kinds of social activities.

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेंद्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

जो योगयुक्त हो गया है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, जिसने अपने-आप पर विजय पा ली है, जिसने इंद्रियों का दमन कर लिया है और जिसका आत्मा सबका आत्मा बन गया है, वह सब कर्म करता हुआ भी उनसे अलिप्त रहता है। ५–७

He is unaffected by *Karma*, although engaged in action, who has yoked himself to the way of *Yoga*, whose mind is purified, whose self has triumphed and whose senses have been subdued, and whose self has, indeed, become the self of all beings. Although acting he remains unaffected by *Karma*. (V-7)

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये ॥

काया से, मन से, बुद्धि से और केवल इंद्रियों से भी योगीजन आसक्ति को छोड़कर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ५–११

Yogi, having renounced attachment, performs action using the body, the mind, the reason or even the senses alone for the purpose of self-purification. (V-11)

भगवद्‌गीता की इस शिक्षा से हिन्दूधर्म-सिद्धान्तों में किसी विरोधात्मक और नये मत का प्रतिपादन नहीं होता। यह हिन्दूधर्म के पूर्व आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तारमात्र है। इस अध्याय में संकलित श्लोकों में जिन बातों पर जोर दिया गया है वे सब ईशोपनिषद् के इन श्लोकों में मिलती हैं :

That this teaching of the *Bhagavad-Gita* is not any kind of protestant departure from Hindu doctrine but is a mere expansion of the principles enunciated by the early fathers of Hinduism is seen from the fact that all that is emphasised in the *slokas* collected in this chapter is contained in the following verses in the *Isavasyopanishad*:—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् !
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः ।।

जगत् में जो-कुछ भी है, वह सब परमेश्वर में स्थित है। इसका अनुभव करके हृदय में उठनेवाली कामनाओं को छोड़ दो। उदाहरण के लिए, दूसरे के उपभोग की वस्तु प्राप्त करने की इच्छा मत करो। आनन्द का लाभ कामना के त्याग से होता है। जीवन के नियत वर्ष

पूरे करते हुए अपना-अपना कर्त्तव्य करते रहो। इस अलिप्तता और समर्पण-भावना से ही मनुष्य कर्म के दोष से मुक्त रह सकता है, अन्यथा नहीं।

गीता में कर्म-त्याग का प्रयत्न करने के बदले निःस्वार्थ भाव से कर्त्तव्य कर्म करते रहने पर बार-बार जोर दिया गया है। उसकी सम्पूर्ण शिक्षा के उपसंहार-रूप अठारहवें अध्याय को नाम तो दिया गया है 'संन्यास योग', परन्तु आरंभ उसका इन श्लोकों से होता है :

> Everything in the universe abides in the Supreme Being. Realizing this, cast off the desires that rise in the heart, for example, the thought of possessing what is enjoyed by another. Joy comes by that renunciation of desire. Do your work while you go through the allotted years of your life. In the detachment and dedication aforesaid lies the way for man to go un-contaminated by *Karma*, not otherwise.

The *Gita* lays reiterated emphasis on the unselfish performance of duty as preferable to attempts at renunciation of activities. The eighteenth chapter, which summarises the teachings of the *Gita,* though named *Sannyasa-Yoga,* starts with the following *slokas:*—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।

कामना से उत्पन्न हुए कर्मों के त्याग को ज्ञानी लोग 'संन्यास' मानते हैं। सब कर्मों का फल छोड़ देने को बुद्धिमान लोग 'त्याग' कहते हैं।
१८–२

Sages accept as *Sannyasa* the renouncing of works that are motived by desire. The relinquishing of the fruit of all action is called *Tyaga* by them. (XVIII-2)

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

नियत कर्मों का त्याग उचित नहीं है। कहा गया है कि ऐसा त्याग मोह से किया जाता है, और वह तामसिक स्वभाव का लक्षण है। १८–७

Renunciation of duties that are prescribed is not proper; it is declared that such relinquishment is due to delusion and is a sign of Tamasic nature. (XVIII-7)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

हे अर्जुन ! जो नियत कर्म इस भावना से किया जाता है कि उसे करना ही चाहिए, और जिसमें आसक्ति तथा फल का भी त्याग कर दिया जाता है, उस कर्म का त्याग सात्त्विक माना जाता है। १८–९

The *Tyaga* that consists in the performance of prescribed duty with the feeling that it ought to be done in a spirit of detachment and not desiring for oneself the fruit thereof, is regarded as Sattvik. (XVIII-9)

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

देहधारी के लिए पूरी तरह से कर्म त्याग देना संभव नहीं। इसलिए

जिसने कर्म के फल का त्याग कर दिया है, वही त्यागी कहा जाता है। १८–११

Having to bear the burden of the physical body, one can never completely relinquish action; he who succeeds in relinquishing the fruit of action has done all and is known as *Tyagi*. (XVIII-11)

निम्नलिखित श्लोकों में यही मत फिर से प्रतिपादित किया गया है। इनमें ईश्वरेच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण-भाव और दैवी अनुग्रह के पूर्ण आश्रय पर जोर दिया गया है।

This is re-stated in the following *slokas* with a stress on complete surrender to the Divine will and unqualified dependence on Grace:—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

जो मेरे आश्रय में रहकर अपनी स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले सब कर्म सदा करता रहता है, वह मेरे अनुग्रह से सदा रहनेवाला अविनाशी पद पाता है। १८–५६

Though ever engaged in performing all the actions appertaining to his station, he who takes refuge in Me, by My grace attains the eternal imperishable abode. (XVIII-50)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

मन से सब कर्मों को मुझे समर्पित करके और मत्परायण होकर,

अर्थात् मुझे पाने के लिए उत्कंठित होकर, बुद्धियोग का सहारा लेते हुए, निरंतर तू अपना चित्त मुझमें रख। १८–५७

Dedicating mentally all works to Me, eager to reach Me, practise *Buddhi-Yoga*, ever filling your mind with Me. (XVIII-57)

मन को स्थिर करने के लिए आत्मा के सच्चे स्वरूप, और प्रकृति तथा परमात्मा के साथ उसके संबंध का निरंतर मनन-चिन्तन करना आवश्यक है। परन्तु इस प्रकार का मनन-चिन्तन तबतक सिद्ध नहीं होता, बल्कि निष्फल होता जाता है, जबतक अपने कर्तव्य कर्म करते हुए उनसे अलिप्त रहने की साधना न हो जाये। सत्य के मनन-चिन्तन से मन को स्थिर करना और साधारण कर्मों में उनके फलाफल से अलिप्त रहने की साधना करना–ये दोनों असल में एक-दूसरे के पूरक हैं। साधना सफल हो जाने के बाद इनमें कोई सच्चा भेद नहीं रह जाता। जब मन आत्मसंयम, अलिप्तता और ईश्वर के साथ एक होने की उत्कंठा से भर जाता है, और मनुष्य सदा इसी अवस्था में रहने लगता है, तभी बुद्धि-योग सिद्ध होता है।

कच्ची हालत में, समय के पहले ही, संसार से निवृत्त हो जाने का प्रयत्न करने से मन स्थिर नहीं हो सकता। कर्म-संन्यास का सच्चा अर्थ यह है कि कर्म में व्यक्तिगत कामना या हेतु न हो। इसकी सिद्धि तभी हो सकती है, जब मनुष्य व्यक्तिगत कामना से अलिप्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करे। इस प्रकार संन्यास और कर्मयोग में कोई अन्तर नहीं है।

Constant contemplation of the true nature of the Soul and its relation to Matter and God is necessary for the attainment of serenity of mind.

But, without the practice of a detached attitude, while performing our duties, such contemplation is not possible and can be of no avail. The practice of serenity of mind by contemplation of the Truth, and the practice of an attitude of detachment in normal activities are really complements of each other. When the effort is successful, there is no real difference between them. *Buddhi-Yoga* is attained when self-control and detachment and longing for union with God have become the normal condition of the mind.

Serenity of mind cannot come by attempting prematurely to withdraw from the world. The real merit in abstention from action lies in the absence of personal desire or motive, and this is attained in the performance of duty unaffected by personal desire. Thus *Sannyasa* and *Karma-Yoga* are the same.

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

तेरा अधिकार केवल कर्म करने पर है, उसके फल पर कभी नहीं। इसलिए कर्म का फल तेरा 'हेतु' न हो, और कर्म न करने का भी तुझे आग्रह न हो। २–४७

Your duty is but to act, never to be concerned with results; so let not the fruit of action be your motive. Do not let yourself be drawn into the path of non-action. (II-47)

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।

हे धनंजय! योगस्थ होकर और आसक्ति छोड़कर तू कर्म कर, सफलता और विफलता में मन को एक-सा रख। 'समत्वभाव' को ही योग कहते हैं। २–४८

Engage yourself in activities, established in *Yoga*, renouncing attachments, and face with even composure, success and failure. Equilibrium is called *Yoga*. (II-48)

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

हे निष्पाप! मैंने पहले बताया है कि इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ अर्थात् मार्ग हैं—एक मार्ग तो सांख्यों का बताया हुआ, सत्य के साक्षात्कार द्वारा योग का अर्थात् ज्ञानयोग का है, और दूसरा है योगियों का बताया हुआ निःस्वार्थ, अनासक्त कर्म द्वारा योग का अर्थात् कर्मयोग का। इनमें से किसी भी मार्ग पर चला जा सकता है। ३–३

Men can follow either of the two paths that I have revealed before, that of *Yoga* by realization of the Truth, as explained by the Sankhyas, and that of *Yoga* by unselfish and detached action, as explained by the *Yogis*. (III-3)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

कर्म का आरंभ न करने से निष्कर्मता प्राप्त नहीं होती, अर्थात् कर्म करने की आवश्यकता से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। न केवल संन्यास से ही वह सिद्धि प्राप्त होती है। ३–४

The soul does not attain freedom from action through refraining from activities. By merely abstaining, one does not attain perfection. (III-4)

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

कोई भी मनुष्य कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण परवश पड़े मनुष्य को कोई-न-कोई कर्म करने में सदा लगाये ही रहते हैं। ३—५

No one can, even for an instant, remain really actionless; for helplessly is every one propelled to action by his innate qualities. (III-5)

लोग कर्मों को छोड़कर संन्यास का रास्ता पकड़ने के बड़े-बड़े प्रयत्न करते हैं, पर उनका परिणाम मिथ्याचार, अपने-आपको धोखा देना और मन को अधिक-से-अधिक कलुषित कर लेना ही होता है। अधिक अच्छा मार्ग तो यह है कि मनुष्य अलिप्त भाव से कर्तव्य करने का प्रयत्न करे।

Ambitious attempts on the part of men to retire from activity and follow the path of *Sannyasa* lead to hypocrisy and self-deception and increased impurity of mind. The safer course for men is to seek to do things in a detached spirit.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

जो कर्म करनेवाली इन्द्रियों को रोककर बैठ जाता है, और मन में चिन्तन करता रहता है उन्हीं इन्द्रियों के विषयों का, वह अपने-आप

को धोखे में डालता है, और वह मिथ्याचारी या दंभी कहा जाता है।
३–६

The man who sits, restraining his organs of action, but dwelling in his mind on the objects of the senses, deludes himself and is called a hypocrite. (III-6)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

परन्तु, हे अर्जुन! जो मन के द्वारा इन्द्रियों का नियंत्रण करके आरम्भ करता है कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का, अनासक्त होकर, वह श्रेष्ठ पुरुष है।
३–७

But he is worthy who controls the senses by his mind, uses his organs of action without developing attachment towards sense-objects, and thus practices the *Yoga* of action. (III-7)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥

तू नियत कर्म को कर। कर्म न करने से कर्म का करना कहीं अधिक अच्छा है। कर्म न करने से तो जीवन का निर्वाह भी संभव नहीं।
३–९

Engage yourself in proper activities. Action is better than non-action. Without work, even the bare sustenance of life is not possible. (III-9)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

मनुष्य कर्म-बन्धन में तभी पड़ता है, जब वह यज्ञ की भावना को छोड़कर किसी अन्य भावना से कर्म करता है।

इसलिए, हे कौन्तेय ! तू आसक्ति को छोड़कर यज्ञ की भावना से कर्म करता जा। ३-९

> Men suffer the bondage of *Karma* only when an act is done otherwise than in the spirit of sacrifice. In that spirit, free from attachment, engage yourself in acton.

धार्मिक वृत्ति के मनुष्य के मन में सबसे पहले यही स्फूर्ति होती है कि वह सारे कर्मों को छोड़कर संन्यास ले ले। हिन्दू-धर्म की प्राचीन शिक्षा में सचमुच इसकी ओर झुकाव भी दिखाई देता है। परन्तु गीता में इस उपाय को साफ अस्वीकार किया गया है। उसमें जोर दिया गया है कि वंशानुगत प्राकृतिक गुणों—सत्त्व, रज, तम—के होते हुए कर्म का त्याग करना संभव नहीं है। दमन करने से मन और भी स्वच्छन्द हो जाता है। मन भले ही विषयों में रमता रहे, पर हम उसके अनुसार काम नहीं करेंगे, इस वृत्ति से मन पर बाहरी अंकुश लगाने से भी कोई लाभ नहीं होता। उससे मिथ्याचार और विकार ही पैदा होता है। दूसरी ओर, अनासक्ति की साधना से आत्मा को, अस्वाभाविक दमन के बिना ही, वंशानुगत गुणों के भार से मुक्त हो जाने का शिक्षण मिलता है।

The first impulse of a religious mind is to abstain from activity and renounce the world. Indeed, the earlier Hindu teaching displayed a leaning towards this. The *Gita*, however, definitely rejects this solution. With inherited tendencies, it emphasizes, action is inevitable. Repression causes the mind to run on, even while externally

restrained from finding expression in action, and leads to hypocrisy or perversion; whereas the practice of the method of detachment trains the soul without unnatural repression to liberate itself from the load of inherited qualities.

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।।

हमारे सब कर्म हमारी प्रकृति के गुणों द्वारा निर्धारित होते हैं। परन्तु अहंकार से मूढ़ बना हुआ मनुष्य मानता है कि मैं ही कर्ता हूँ। ३–२७

Our acts are all determined by the propensities of our nature. The illusion of the ego makes the soul consider itself the doer. (III-27)

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।।

परन्तु, हे महाबाहो ! जो गुणों और कर्म के तत्त्व को जानता है, यह जानकर कि गुण ही अपने-आपको प्रकट कर रहे हैं, वह अपने आत्मा को अलिप्त रखता है। ३–२८

But he who knows the truth about propensities and action, understanding that propensities express themselves, keeps his soul unattached. (III-28)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करते हैं। सब प्राणी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हैं। तब निग्रह क्या करेगा ? ३–३३

Even the man of profound knowledge acts in conformity with his own congenital nature. All beings follow their own nature. Of what avail is suppression? (III-33)

संसार का त्याग करके संन्यासी बनने के विरुद्ध अब एक निर्णायक तर्क उपस्थित होता है। संन्यास लेने की योजनाएँ बनाकर आप यह आशा नहीं कर सकते, कि आप खुद तो अलग खड़े रहें, और दूसरे लोग समाज का साधारण काम-काज चलाते रहें। सामाजिक जीवन तो चालू रहना ही है, और आप जो-कुछ करते हैं, उसका दूसरे लोग अनुकरण करेंगे, यह अपेक्षा भी रखनी ही चाहिए। गीता का नीति-शास्त्र मुख्यरूप से सामाजिक है। गीता बताती है कि राजर्षि जनक के लिए जो अच्छा था, वह सब के लिए भी काफी अच्छा है।

Now comes a clinching argument against leaving the world to become a recluse. You cannot set for yourself the plan of renunciation and expect others to carry on the normal work of society while you stand out. Social life must go on; and what you do, others must be expected to copy. The ethic of the *Gita* is pre-eminently a social one. What was good for great Janaka, it says, is good enough for all.

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

जनक आदि ने भी कर्म से ही परमसिद्धि पाई थी। तुझे तो लोक-संग्रह (लोक-कल्याण) की दृष्टि से भी कर्म करना चाहिए। ३–२०

Janaka and others attained perfection only through performance of duties. Looking even

to the welfare of society, you should work. (III-20)

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी वही करते हैं। वह जो प्रमाण बना देता है, लोग उसीके पीछे चलते हैं। ३–२१

Whatever way of life a high-placed man adopts, other men copy; the standard he sets up is followed by the people. (III-21)

संसार में ज्ञानी और अज्ञानी सब के सहयोग की आवश्यकता है। ज्ञानियों की संख्या बराबर बढ़ सकती है, और बढ़नी चाहिए। परन्तु, साथ ही, यह भी याद रहे कि सामाजिक जीवन में अज्ञानी के सहयोग को भी छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए अज्ञानियों के मन को जान-बूझकर डावाँडोल नहीं करना चाहिए।

The co-operation of all is needed for the world —of the wise as well as of the ignorant. The ranks of the wise may and should steadily increase. But it should not be forgotten meanwhile that social life cannot dispense with the co-operation of the ignorant. Their minds, therefore, should not be purposely disturbed.

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

हे भारत! जिस तरह अज्ञानी लोग आसक्त होकर, अर्थात् फल पाने की कामना से कर्म करते हैं, उसी तरह ज्ञानी को अनासक्त होकर 'लोक-कल्याण' के लिए कर्म करना चाहिए। ३–२५

The informed should toil with the motive of the social welfare without attachment, even as the uninformed toil, moved by personal desire for results. (III-25)

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।।

ज्ञान का लाभ लेकर कर्म-फल में आसक्त अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि को डावाँडोल न किया जाय; बल्कि ज्ञानी स्वयं योग-विधि से कर्म करे, और कर्मों को आकर्षक बनाये। ३—२६

Let no man who has the advantage of knowledge unsettle the mind of ignorant people who are moved by attachment to the results of action; but, himself following the rule of *Yoga*, let him work rendering all action attractive. (III-26)

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।।

प्रकृति के गुणों में डूबे हुए मनुष्य मोह-जनित आसक्ति से कर्म करते हैं; जिसे सत्य का साक्षात्कार हो गया है, उसे इन दुर्बल मनवालों की कच्ची बुद्धि को डावाँडोल नहीं करना चाहिए। ३—२९

Those on whom the qualities of matter have wrought their spell are propelled to action by the attachments so generated. The man who has realized the truth should not unsettle the imperfect understanding of the weak-minded. (III-29)

प्रकरण ५

मनोनियमन की साधना

[अध्याय २–श्लोक ६०-६३, ६७, अध्याय ३–श्लोक ३६-४१, अध्याय १६–श्लोक २१, २२, अध्याय १८–श्लोक ३६, ३७]

पिछले अध्याय में गीता की इस शिक्षा की व्याख्या की गई है कि सच्चा संन्यास संसार का त्याग करने में नहीं, बल्कि आसक्ति से अलग रहकर कर्म करने में है। यह सिद्धान्त इसलिए नहीं बताया गया कि जो लोग संसार से हटने के इच्छुक नहीं हैं, वे इसका हवाला देकर अपने पक्ष का पोषण करें या उसकी सफाई दें। वास्तव में, इसका उद्देश्य एक ऐसा आधार प्रदान करना है, जो अपना जीवन गढ़ने में मनुष्यों के काम आये और वे आदतन तथा स्वेच्छा से निर्लिप्त और निःस्वार्थ रहने की वृत्ति को विकसित कर सकें। हमें इस संसार में बतख़ की तरह रहना सीखना चाहिए। वह पानी में तैरती रहती है, पर उससे बाहर निकलते ही अपने शरीर पर का सारा पानी झटक देती है। हमारे काम में कुशलता, सुघड़ता या क्षमता का अभाव तो न हो, परन्तु हम इस दृष्टि से सदाही सतर्क रहें कि हममें स्वार्थपूर्ण आसक्ति पैदा न हो जाये। अलिप्तता का यह अभ्यास बनाये रखने के लिए लगातार मन के नियंत्रण की साधना करना आवश्यक है।

काम, क्रोध और लोभ ये शुभ संकल्पों के शत्रु हैं। जो मनुष्य अनासक्ति को विकसित करना चाहता है, उसे मन को क्षुब्ध करनेवाले इन विचारों से सदा सावधान रहना चाहिए। यदि मन पर काबू पा लिया गया, तो बाकी सब आपही सध जायेगा। विचारों में भलाई

और बुराई दोनों ही करने की शक्ति बहुत बड़ी होती है। अगर मन पर सावधानी के साथ पहरा न रखा गया, तो कामना इन्द्रियों को वश में कर लेगी, विचारों पर अधिकार जमा लेगी, बुद्धि को भ्रष्ट कर देगी, और अन्त में हमारा सर्वनाश कर डालेगी। इसलिए कामना के साथ युद्ध उसी समय छेड़ देना चाहिए, जबकि वह हमारे विचारों में प्रवेश करने के लिए द्वार पर आकर खड़ी हो।

CHAPTER V

THE PRACTICE OF MIND-CONTROL

[Adhyaya II—Slokas 60-63, 67. Adhyaya III—Slokas 36-41. Adhyaya XVI—Slokas 21, 22. Adhyaya XVIII—Slokas 36, 37.]

THE *Gita* teaching explained in the previous chapter, *viz,* that true renunciation is best exhibited in selfless performance of work and not in withdrawal from the world, is not a theory put forward to serve as a defence or an apology for those who are unwilling to withdraw from the world. It is intended to be the basis for the actual moulding of men's lives, so as to develop a habitual and spontaneous attitude of selflessness and detachment. As a duck swims in water and when it steps out sheds the water from off its back, so should we learn to move in the world; not wanting in expertness or tidiness or efficiency in work, but vigilantly guarding against the development of selfish attachments. Constant

practice of control of mind is essential to enable one to maintain this detached attitude.

The enemies of good resolution are lust, anger and greed. He who wishes to develop detachment must be continually on the watch against these perturbations of the mind. If the mind is controlled, the rest will take care of itself. The power of thought is great, for either good or evil. If the mind is not carefully guarded, desire will find its perch in the senses, seize our thoughts, pollute our intelligence and finally ruin us. Therefore the battle must be fought with desire at the gate, even while it seeks entrance in our thoughts.

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।

हे कौन्तेय ! जो मनुष्य सच्चे हृदय से मन पर काबू पाने का प्रयत्न करता है, उसके भी मन को ये विद्रोही स्वभाववाली इन्द्रियाँ जबरदस्ती खींच ले जाती हैं। २–६०

The rebellious nature of the senses is such that even in a man who knows and who is sincerely striving they are apt violently to carry away his mind. (II-60)

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

इन सबका संयमन करके साधक को योगयुक्त और मत्परायण होकर बैठना चाहिए।

जिसकी इंद्रियाँ अपने वश में हो गई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। २–६१

Restraining them all, he should sit with his mind composed and bent on Me. He whose senses are mastered has his understanding firmly fixed. (II-61)

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

मनुष्य अपने मन में इंद्रिय-सुख के विषयों का चिन्तन करता है, तो उनके प्रति उसकी आसक्ति पैदा हो जाती है।

फिर, आसक्ति से उन विषयों की कामना और कामना से क्रोध के कारण पैदा होते हैं। २–६२

When a man allows his mind to muse on the objects of sense-enjoyments, an attraction for them is created. Attraction develops into craving, and from craving follow causes for anger. (II-62)

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध से सम्मोह, अर्थात् अविवेक पैदा होता है; सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, अर्थात् स्मरण-शक्ति बिगड़ जाती है, स्मृति बिगड़ने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, और बुद्धि के नाश से तो सर्वनाश ही है। २–६३

Anger produces delusion. Delusion confuses the memory and understanding of things;

from this confusion of understanding follows the disintegration of the power of discrimination; with discrimination gone, the man perishes. (II-63)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

भटकती हुई इंद्रियों के पीछे दौड़नेवाला मन बुद्धि को अपने साथ उसी तरह खींच लेता है, जैसे तूफान समुद्र में जहाज को खींच ले जाता है। २–६७

The mind that follows the wandering senses carries away the Reason of the man with it, as the gale bears away the ship on the ocean. (II-67)

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

अर्जुन ने पूछा :

तो फिर, मनुष्य किसकी प्रेरणा से पाप करता है, हे वार्ष्णेय ! इच्छा न होने पर भी, मानों बलपूर्वक उसमें लगा दिया गया हो ? ३–३६

Arjuna asked:

But impelled by what, does a man commit sin, as it were by force constrained, though he does not wish, indeed, to be a sinful man? (III-36)

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।

श्रीभगवान् ने कहा :

यह काम है। यह क्रोध है। रजोगुण से यह उत्पन्न होता है। इसका कभी पेट नहीं भरता। यह महापापी है। इसे तू इस संसार में अपना शत्रु समझ। ३–३७

The Lord said:

It is desire. It is anger. It is born out of the principle of passion in nature, insatiable and all-polluting. Know it as our enemy here on earth. (III-37)

धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।

जैसे धुएँ से अग्नि ढँकी रहती है, धूल से दर्पण ढँका रहता है, और झिल्ली से गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही इस शत्रु ने बुद्धि को ढँक रखा है। ३–३८

As smoke surrounds fire, as a mirror is covered over with dust, as the embryo is encased in the womb, the understanding is enveloped by this enemy. (III-38)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।

ज्ञानियों के इस नित्य वैरी ने ज्ञान को घेरकर बन्दी बना रखा है। यह कामरूप है, कभी तृप्त न होनेवाला मानो अग्नि है। ३–३९

This perpetual enemy of the wise, this unquenchable and insatiable foe, Desire, surrounds and holds the understanding as prisoner. (III-39)

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

कहा गया है कि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि इसके अधिष्ठान या गढ़ हैं। वह, विवेकबुद्धि को ढँककर, इनके द्वारा मनुष्य को भुलावे में डाल देता है। ३–४०

It is said that this enemy seizing the senses, the mind and Reason and thus closely surrounding and isolating the understanding, uses them to bewilder the soul. (III-40)

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

इसलिए, हे भरतश्रेष्ठ! सबसे पहले तू इंद्रियों का नियंत्रण करके इस पापी को मार डाल।

यदि ऐसा न किया, तो यह तेरे ज्ञान और विज्ञान को नष्ट कर डालेगा। ३–४१

Therefore, governing first the senses, slay this evil thing, which otherwise will destroy knowledge and discrimination. (III-41)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ, नरक के ये तीन प्रकार के द्वार हैं, जो मनुष्य का सर्वनाश कर डालते हैं–

इसलिए इन तीनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। १६–२१

There are three gateways to hell, by which one's self-ruin is brought about—lust, anger and greed; therefore let these three be renounced. (XVI-21)

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥

हे कौन्तेय! इन तीनों तमोद्वारों से छुटकारा पाकर मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, और उससे परमगति पाता है। १६–२२

Saved from these three gates of darkness, man works out the good of his self, and reaches the highest goal. (XVI-22)

सच्चा सुख उससे नहीं मिलता, जो पहले तो अमृत-जैसा मालूम दे, किन्तु अन्त में हलाहल बन जाये। आत्म-संयम ही सच्चा सुख देता है, भलेही आरम्भ में वह कठिन और अप्रिय लगता हो।

True happiness does not come from that which at first is like nectar, but which in the end becomes, indeed, venom. Self-control leads to true happiness, though in the beginning it is hard and bitter.

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! अब तू सुख भी तीन प्रकार के सुन–

एक तो वह सुख है, जिसमें मनुष्य अभ्यास से रम जाता है, और जहाँ दुःख का अन्त हो जाता है;

दूसरा वह है, जो आरम्भ में विष के जैसा, परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है;

और तीसरा वह है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि के अनुग्रह से प्राप्त होता है ऐसे सुख को 'सात्त्विक' कहा जाता है। १८–३६–३७

Of three kinds of pleasure, that in which one by gradual practice rejoices and in which one finds an end to grief, which at first is as venom, distasteful, but in the end is like nectar; that pleasure is said to be Sattvik, born of the clarified understanding of the soul. (XVIII-36, 37)

प्रकरण ६

ध्यान

[अध्याय २–श्लोक १४,१५,३८, अध्याय ५–श्लोक २२–२४, २६,२८, अध्याय ६–श्लोक ३–७, १०–१४,१६,१७,१९,२४–२७' अध्याय १२–श्लोक १३,१९, अध्याय १४–श्लोक २२–२५]

साधारण काम-काज करते हुए, निःस्वार्थ रहने का अभ्यास करने के बाद, साधक सुख और दुःख के प्रति तटस्थ भाव रखने की ओर बढ़ सकता है। किसीभी प्रयत्न में सफलता या विफलता से मन उद्विग्न या विचलित नहीं होना चाहिए। सुख और दुःख को, एक-दूसरे का पूरक मानकर और अस्थायी समझकर, समान भाव से स्वीकार करना चाहिए। ये दोनों सापेक्षता के सार्वलौकिक नियम के अंग हैं। इनसे बच निकलना संभव नहीं है। ये प्रकृति के संसर्ग से पैदा होते हैं। आत्मा पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

CHAPTER VI

MEDITATION

[Adhyaya II—Slokas 14, 15, 38. Adhyaya V—Slokas 22-24, 26, 28. Adhyaya VI—Slokas 3-7, 10-14, 16, 17, 19, 24-27. Adhyaya XII—Slokas 13-19. Adhyaya XIV—Slokas 22-25.]

AFTER practising an attitude of unselfishness when engaged in normal activities, the aspirant

can advance towards an attitude of indifference to pain and pleasure. Success or failure in any endeavour should not agitate the mind. Pain and pleasure should be welcomed with equanimity as being impermanent and, in the very nature of things, complementary to each other. They are part of the universal law of relativity, inescapable. They arise out of the "contacts of matter" and have no effect on the soul.

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांतितिक्षस्व भारत ।।

हे कौन्तेय! भौतिक पदार्थों का संसर्ग सर्दी और गर्मी को, सुख और दुःख को उत्पन्न करता है।

ये संवेदनाएँ आती हैं, और चली जाती हैं। ये अनित्य हैं। हे भारत! इनको तू शान्तिपूर्वक सहन कर। २–१४

Material contact produces cold and heat, pleasure and pain. These sensations are fleeting and insubstantial; go through them unruffled. (II-14)

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।

हे पुरुषश्रेष्ठ! जो इन सबसे व्यथित नहीं होता, जो धीर है, दुःख और सुख में जो समान भाव से रहता है, वह अमृतत्व की अवस्था प्राप्त कर सकता है। २–१५

The man who is not ruffled by these, who is brave, and the same in pain and pleasure, shapes himself for immortality. (II-15)

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।।

दुःख और सुख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान मानकर, तू युद्ध के लिए तैयार हो जा; ऐसा करने से तुझे पाप नहीं लगेगा। २–३८

Welcoming, with equanimity, pleasure and pain, acquisitions and losses, victory and defeat, get ready for battle; thus you shall not incur sin. (II-38)

मनुष्य के अपने विचार और कर्म ही उसके आत्मा के भवितव्य पर असर डालते हैं, बारी-बारी से आनेवाले ये बाहरी सुख और दुःख नहीं।

सच्चा आनन्द संसर्गजनित सुखों से नहीं, किन्तु आत्मसंयम से प्राप्त होता है। आत्मसंयम से आनेवाली मन की स्थिरता या शान्ति जीवन में ऐसा परिवर्तन कर देती है कि उससे जीवात्मा, शरीर में बन्दी रहता हुआ भी, स्वतंत्र हो जाता है।

It is one's own thoughts and one's own actions that affect the fortunes of one's soul, not the alternating joy or sorrow that comes from without.

True happiness comes not from contact-born pleasures, but from self-control. The serenity of mind that is attained by the practice of self-control works such a change that it may be said that thereby the soul is liberated even though it is still imprisoned in the flesh.

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।

बाहरी पदार्थों के संयोग से जो सुख पैदा होते हैं, वे सचमुच दुःखों के मूल बन जाते हैं। वे पैदा होते हैं और मिटते भी हैं। बुद्धिमान मनुष्य उनमें रमते नहीं हैं। ५–२२

The pleasures that are contact-born become, indeed, wombs of pain. Such pleasures have beginning and ending; the wise do not rejoice in them. (V-22)

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।

जिस मनुष्य ने शरीर छोड़ने से पहले इस लोक में ही सहन करने, याने जीतने की साधना कर ली है, काम और क्रोध से भड़के हुए वेग को, वही योगी है, और वही सुखी है। ५–२३

He is a happy man and a *Yogi* who learns to withstand here on earth, ere he be liberated from the body, the force of desire and anger. (V-23)

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।

जिसका सुख उसके अन्दर ही है, जिसे अपने अन्तर में ही आनन्द प्राप्त होता है, और जिसका अन्तःकरण प्रकाशमय है, वह योगी परम-निर्वाण पाता है, और ब्रह्म में विलीन हो जाता है। ५–२४

He whose pleasure is within himself, who derives joy within himself, who has a shining light within himself, that *Yogi* attains final liberation and is absorbed in Brahma. (V-24)

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।

जिनके मन में न तो काम रहा है न क्रोध, जिन्होंने मन को अपने वश में कर लिया है, उन यतियों के लिए उन आत्मज्ञानियों के लिए ब्रह्म-निर्वाण अर्थात् परममोक्ष निकट रखी हुई वस्तु की तरह सुलभ है। ५–२६

Final liberation lies near to those seekers who control their mind, who cast off desire and passion and who know themselves. (V-26)

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।

इन्द्रियों को, और मन और बुद्धि को वश में रखनवाला और सदा मोक्ष के प्रयत्नों में लगा हुआ मुनि, जो इच्छा, भय और क्रोध से सदा के लिए छुटकारा पा गया है, सचमुच मुक्त ही है। ५–२८

With senses, mind and intellect ever under control, absorbed in the pursuit of final liberation, the sage, free from desire, fear and anger, is, indeed, already liberated. (V-28)

तथापि, सब कर्त्तव्य कर्म निःस्वार्थ रीति से करने का अभ्यास हो जाने के पूर्व मन में यह समत्व-भाव लाने का प्रयत्न करना असामयिक होगा। यदि मनुष्य अभ्यास के द्वारा साधारण कार्यों को भी निःस्वार्थ-भाव से करना लगभग स्वाभाविक बना ले, तो वह मन की स्थिरता प्राप्त करने की अधिक कठिन साधना के योग्य हो जायेगा, और वह सफलता और असफलता, शोक तथा आनन्द में निरपेक्ष भाव कायम रख सकेगा।

It would, however, be premature to attempt to attain this serenity of mind without first habituating oneself to unselfish performance of all

duties. If the unselfish attitude is by practice made almost spontaneous in normal activities, one is qualified to enter on the more difficult practice of serenity irrespective of success or failure, or of joy or sorrow.

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।।

योग-साधन की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिए कर्त्तव्य कर्म ही साधन बताया गया है। योगारूढ़ हो जाने पर उसके लिए शम को अर्थात् मन की शान्ति या स्थिरता को साधन कहा गया है। ६–३

For a sage who is seeking *Yoga*, performance of duty is declared to be the means; when he is well confirmed in the practice of *Yoga*, serenity is declared the means. (VI-3)

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।।

जब मनुष्य इंद्रियों के विषयों में या इन्द्रियों के लिए कर्म करने में आसक्त नहीं होता, और जब वह सारे ही संकल्पों का त्याग कर देता है, तब उसे 'योगारूढ़' कहा जाता है। ६–४

When a man feels no craving for the objects of sense or for being engaged in activities therefor, and his mind is free of all such plans of action, then he is said to be confirmed in the practice of *Yoga*. (VI-4)

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

मनुष्य आत्मा से आत्मा की उन्नति करे, (अपने आपको स्वयं ऊपर उठाए) और अन्तर्निवासी आत्मा को दुर्बल न होने दे; असल में आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, और शत्रु भी आत्मा का आत्मा ही है। ६–५

Let one raise the Self by the Self and not let the Self within become weak; the Self is, indeed, the Self's only friend, but the Self is also its own enemy. (VI-5)

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

जिसने आत्म-संयम द्वारा अपने आप पर विजय पा ली है, उसका आत्मा उसका बन्धु है; परन्तु जिसने अपने आप पर शासन करना नहीं सीखा, वह स्वयं अपनाही घोर शत्रु बन जाता है। ६–६

He who has conquered himself by self-control finds a friend in himself; but he becomes verily his own worst enemy if he has not learnt to govern himself. (VI-6)

जितात्मानः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥

जिसने अपने आत्मा को अर्थात् अन्तःकरण को जीत लिया है, और मन का 'समत्व' प्राप्त कर लिया है, उसका रूपान्तरित आत्मा सर्दी और गर्मी में, सुख और दुःख में, मान और अपमान में समानभाव से रहता है। ६–७

The transfigured Self of him who has attained self-control and equanimity is unruffled in cold and heat, pleasure and pain, honour and disgrace. (VI-7)

कर्मयोग की साधना के बाद–अर्थात् स्वार्थ-कामना से अलग रहकर और सफलता या असफलता से विचलित हुए बिना अपने नियत कर्त्तव्य करने की साधना के बाद–साधक को, जितनी अधिक बार हो सके, गहरे और निर्विघ्न ध्यान के लिए संसार का त्याग करना चाहिए। ऐसा ध्यान मन की समता प्राप्त करने में बहुत सहायक होता है। नीचे के श्लोकों में ऐसे ध्यान की साधना को ही 'योग' माना गया है :–

After one has trained oneself to be a *Karma-yogin,* that is to say, to do the duties that fall to one's lot without selfish desire and without agitation as to success or failure, one is advised as often as possible to withdraw from the world for deep and undisturbed meditation. Such meditation is a great aid to secure serenity of mind. *Yoga* in the following slokas is the practice of such meditation:—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

योगी को अकेले ही बार-बार एकान्त स्थान में रहकर अपना मन एकाग्र करना चाहिए, मन का संयमन करके और इच्छा और संग्रह की भावना को छोड़कर। ६–१०

Let the *Yogi* often retire to a secluded place, alone, with mind controlled, and divesting himself of wishes and of all thought as to possessions, and concentrate his mind on his soul. (VI-10)

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

पवित्र स्थान में, स्थिर आसन पर बैठना चाहिए, जो न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा, कपड़ा, चर्म और कुश एक-पर-एक बिछाकर। ६–११

Seated in a clean place, on a fixed seat prepared for himself, neither very much raised nor very low, covered over with cloth, skin and Kusha grass. (VI-11)

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।

वहाँ मन को एकाग्र कर, मन और इन्द्रियों का संयमन करके, आसन पर बैठकर, उसे आत्मशुद्धि के लिए ध्यान करना चाहिए। ६–१२

There, having steadied his mind, controlling thought and the functions of the senses, sitting on his seat, he should engage himself in meditation for the purification of the Self. (VI-12)

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।

धड़, गर्दन और सिर एक सीध में अचल रखकर, स्थिर होकर, दृष्टि को नाक के अग्रभाग पर जमाकर, और इधर-उधर न देखता हुआ। ६–१३

With body, head and neck erect, not shaking, steady, eyes turned to the point of the nose and gaze not wandering. (VI-13)

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।।

आन्तरिक शान्ति के साथ, निर्भय, ब्रह्मचर्य में दृढ़, मन का भलीभांति नियंत्रण करके, मेरा चिन्तन करता हुआ वह युक्त होकर बैठे, और मुझे प्राप्त करने के प्रयत्न में निमग्न हो जाय। ६–१४

With internal calm, fearless, firm in the vow of Brahmacharya, the mind well governed, thinking of Me, let him sit harmonised and absorbed in attaining Me. (VI-14)

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

योग उसके लिए नहीं है, जो ठूँस-ठूँसकर खाता है, और न उसके लिए ही, जो बिल्कुल नहीं खाता; हे अर्जुन! योग बहुत सोनेवाले के लिए भी नहीं है, और न वह बहुत जागरण करने से ही सिद्ध होता है। ६–१६

Yoga is not for him who eats too much, nor for one who absolutely abstains from food; it is not for him who is too much addicted to sleep, nor is it to be attained by keeping vigils. (VI-16)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

जिसका आहार और विहार संयत है, अर्थात् संतुलित है, जो अपने कर्मों में संयत है, यथायोग्य प्रयत्न करनेवाला है, जो सोने और जागने में संयत है, जितना चाहिए उतना ही सोता और जागता है, उसेही दुःखों का नाश करनेवाला 'योग' सिद्ध होता है। ६–१७

Yoga, the destroyer of pain, is for him whose food, diversions, work, sleep and waking are all controlled and regulated. (VI-17)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।

जब दीपक बिल्कुल शान्त वायु के स्थान पर रखा जाता है, तब उसकी लौ डगमगाती नहीं; उसीकी उपमा दी जाती है उस योगी के अचल ध्यान को, जिसने अपने मन को वश में कर लिया है। ६–१९

When a lamp is set in a place where the air is absolutely still, the flame does not flicker. To this is likened the steadfast meditation of the Yogi, whose mind is under control. (VI-19)

याद रखना चाहिए कि यहाँ प्रत्येक कार्य करने में सौम्यता का आग्रह किया गया है। तप के बारे में भी सौम्यता का ही आग्रह है। मनुष्य के विचार उसके मन के साथ भटकते रहते हैं। सफलता की कुंजी उन्हें वश में करने की अविराम साधना में है, तप को अधिक-से-अधिक कठोर बनाने में नहीं।

Note the insistence on moderation in everything including austerities. The secret of success is in steady practice in the art of controlling thoughts which continually seek to run away with the mind; and not in excessive severity of austerities.

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।।

संकल्प से उत्पन्न सब कामनाओं–अर्थात् वासनाओं– को पूरी तरह छोड़कर, और मन के ही द्वारा इन्द्रियों का चारों ओर से नियंत्रण करके। ६–२४

Keeping the mind absolutely free from all

desires and using the mind to curb the senses, in every direction. (VI-24)

शनैःशनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।।

वह धैर्य के साथ, अपनी बुद्धि का उपयोग करके, धीरे-धीरे अन्तर्मुख होता जाये– अर्थात् शरीर और इंद्रियों से तटस्थ होकर शान्त होता जाये, और, इस प्रकार मन को आत्मा में स्थिर करके कोई भी विचार मन में न आने दे। ६–२५

Let him use his *Buddhi* with steady application gradually to withdraw into himself and thus having made the mind abide in the Self, let him not think of anything. (VI-25)

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।

जब-जब चंचल और अस्थिर मन इधर-उधर भटकने लगे, तब साधक को उसे रोककर काबू में लाना चाहिए, और आत्मा में रमने के लिए उसे उसके अधीन कर देना चाहिए। ६–२६

Each time the wavering and unsteady mind seeks to wander, let him restrain and bring it under control and lead it to abide in the Self. (VI-26)

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।

उस योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है, जिसने अपने अन्तर की अशान्ति मिटा दी है, और मन जिसका बिल्कुल शान्त हो गया है, जिसने रजोगुण पर विजय पा ली है, जिसने इस प्रकार अपने आपको
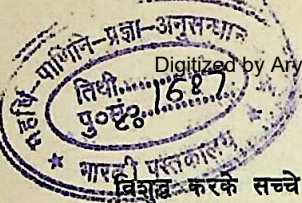
विशुद्ध करके सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है, और जो ब्रह्म के साथ एकरस हो गया है, या जो ब्रह्म में ही रमने लगा है। ६–२७

The purest joy comes to the *Yogin* who has quelled the restlessness within him, whose mind has attained calm, and who, thus purified, has attained his true self and turned himself to the Infinite. (VI-27)

बारहवें अध्याय के नीचेलिखे श्लोकों में ऐसे पुरुष का वर्णन किया गया है, जो मन की ऐसी आदर्श शान्ति को प्राप्त कर लेता है :–

The following *slokas* in the 12th *Adhyaya* describe the man who has attained this ideal serenity of mind:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो प्राणिमात्र का मित्र है, और करुणावान् भी, जो ममता और अहंकार से छुटकारा पा गया है, दुःख और सुख में जो समान भाव रखता है, और जो क्षमाशील है। १२–१३

He who has no hatred, and is a friend of all living things, full of compassion, without the feeling of "I" or "Mine," balanced in pleasure and pain, and ever forbearing. (XII-13)

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥

जो सदा सन्तोषी, आत्मयुक्त, संयत और दृढ़ निश्चयवाला है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दिया है, वह मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है। १२–१४

Content always and yoked to the Spirit, self-controlled, resolute, with emotion and understanding dedicated to Me, he is My devotee, and is dear to Me. (XII-14)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

जिससे दूसरों को क्लेश नहीं होता, और जो स्वयं दूसरों से क्लेश नहीं पाता, जिसने हर्ष, क्रोध और भय के क्लेशों से छुटकारा पा लिया है, वह मुझे प्रिय है। १२–१५

He who does not cause perturbation to other beings, and who is himself not perturbed at the world, who is free from the agitation of joy, anger and fear, he is dear to Me. (XII-15)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

जो किसी वस्तु के पाने की इच्छा नहीं करता, जो शुद्ध है, दक्ष है, यथोचित विचार और कार्य करनेवाला है, जो मनोविकारों से अलिप्त या उदासीन है, जो व्यथित नहीं होता, और जिसने सभी सांसारिक संकल्पों या योजनाओं का त्याग कर दिया है, मेरा वह भक्त मुझे प्रिय है। १२–१६

He who desires nothing, is pure, right-minded, passionless, unruffled, has renounced all worldly plans, he, My devotee, is dear to Me. (XII-16)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥

जो न प्रेम करता है, न द्वेष, न शोक करता है, न कोई कामना, जिसने वस्तुओं को शुभ और अशुभ मानना छोड़ दिया है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। १२–१७

He who does not love or hate, who does not grieve or long for anything, who has given up looking on things as welcome and unwelcome, such a devotee is dear to Me. (XII-17)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

जो शत्रु और मित्र, तथा मान और अपमान के प्रति समान भाव रखता है, जो सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख में भी समान भाव रखता है, और जो अनासक्त हो गया है। १२–१८

Alike in mind to those who are friendly to him or unfriendly, and looking with even composure on fame and obloquy, alike in cold and heat, pleasure and pain, free from attachments. (II-18)

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥

जो निन्दा और प्रशंसा को समान भाव से देखता है, जो मौन रखता है, जो कुछ मिल जाये उसीमें सन्तुष्ट रहता है, जो किसी स्थान को अपना घर नहीं मानता, जो स्थिर बुद्धिवाला है, वह मेरा भक्त है, और ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। १२–१९

Valuing praise and reproach alike, silent, wholly content with what comes, not looking on any place as his home, firm in mind, he is My devotee and such a one is dear to Me. (XII-19)

इस प्रकार कर्मों के नियमन और नियमित ध्यान से मन में जो शान्ति और स्थिरता आती है, उसके भंग हो जाने का खतरा सदा बना रहता है। पूर्वजन्मों के संस्कारों के अनुसार प्राप्त शरीर की शक्तियाँ, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण, उसे भंग करने की घात लगाये रहती हैं। आत्म-साक्षात्कार हो जाने के बावजूद वे अपना काम करती ही रहती हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष सत्य के प्रति निरंतर जागरूक रहकर अपनी रक्षा करता है। वह अपनी प्रकृति के बदलते हुए भावों से विचलित नहीं होता। ये भाव कभी तो (सतोगुण-जन्य) मानसिक समत्व, कभी (रजोगुण-जन्य) कर्म की स्फूर्ति और कभी (तमोगुण-जनित) जड़ता के वृत्ति के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

The serenity of mind thus developed by the regulation of activities and regular meditation is ever liable to be disturbed by the forces of the inherited physical body. These tend to operate in spite of self-realization, but the wise man protects himself by continually reminding himself of the truth. He is not agitated by the changing phases of his nature, which now may be equilibrium, and now urge for action, or again inertia.

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥

हे पाण्डव! जो प्रकाश का, अर्थात् आत्मा की निर्मल वृत्ति से, कर्म की प्रेरणा से, और मोह से भी; उसके प्राप्त होने पर, द्वेष नहीं करता, बल्कि उनका स्वागत करता है, और उनके चले जाने पर फिर उनकी कामना नहीं करता। १४–२२

He who welcomes clarity of spirit, the urge to activity, and even delusion as they

come, but does not long for them again when they disappear. (XIV-22)

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।

वह अपने अन्तरात्मा को बदलते हुए भावों से अप्रभावित और अविचलित रखता है, और यह सोचकर कि ये तो मेरे भौतिक शरीर के गुण काम कर रहे हैं, तटस्थ रहता है। १४–२३

He who remains unmoved, keeping his inner spirit unaffected and unruffled by the changing moods, saying to himself, "The qualities of my material body are just moving." (XIV-23)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।

जो दुःख और सुख का समानभाव से स्वागत करता है, जो स्वस्थ है–अर्थात् अपने आपमें ही स्थिर और धीर है, जो पत्थर और सोने को एक समान समझता है, जो प्रिय और अप्रिय को समान दृष्टि से देखता है, जो धीर है, जो निन्दा और प्रशंसा में भेद नहीं करता। १४–२४

Equally welcoming pain and pleasure, self-sustained and brave, to whom a clod of earth, a piece of stone and a nugget of gold are just the same, who makes no difference between those that are dear and those who are not and is the same in praise or blame. (XIV-24)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।।

मान और अपमान को जो एक-सा ही समझता है, जो मित्र और शत्रु को एकही दृष्टि से देखता है, जिसने सारे संसारी समारम्भों का त्याग कर दिया है, ऐसे पुरुष को गुणातीत कहा गया है, अर्थात् जिसने प्रकृति के तीनों गुणों पर विजय पा ली है। १४–२५

The same in honour and calumny, the same to friend and foe; having abandoned all worldly undertaking—such a one is declared as having overcome natural propensities. (XIV-25)

प्रकरण ७

प्रकृति के गुण—सत्त्व, रज और तम

(अध्याय ५—श्लोक १४, १५, अध्याय १३—श्लोक ३०—३२, अध्याय १४—श्लोक ५—१९, अध्याय १८—श्लोक ४०,६०, ६१)

मनुष्य गलत आचरण क्यों करता है ? अगर हम इस बात पर ध्यान दें, तो दूसरों के बारे में अधिक उदारता से निर्णय कर सकेंगे। मन के उद्विग्न या चंचल होने पर उसे शान्त और स्थिर करने में भी इससे मदद मिलेगी। हमारा जीवन स्वाभाविक गुणों का भार लेकर आरम्भ होता है। जब कभी हम आत्म-संयम से काम लेने में चूकते हैं, तभी ये गुण हमारे कार्यों में होने लगते हैं। इसलिए जब दूसरे लोग गलती करते दिखलायी पड़ें, तब हमें अपनी ही कमजोरियों का खयाल करना चाहिए। फिर, प्रत्येक वस्तु के पीछे परमात्मा तो रहता ही है, जो सच्चा कर्त्ता है। हमारी सीमित बुद्धि को जो बुरा दिखायी पड़ता है, उसके बार-बार दीखने से विचलित नहीं होना चाहिए। यद्यपि परमात्मा की इच्छा और उसके संकल्प प्रकृति के गुणों के द्वारा कार्यान्वित होते रहते हैं, फिरभी उनको तर्क से जाना नहीं जा सकता।

CHAPTER VII

INHERITED PROPENSITIES

[Adhyaya V—Slokas 14, 15. Adhyaya XIII—Slokas 30-32. Adhyaya XIV—Slokas 5, 19. Adhyaya XVIII—Slokas 40, 60, 61.]

AS an aid to charity in judging others and to serve to calm the mind in moments of agitation, it is very useful to remember why men act wrongly. There is a load of congenital qualities with which we begin and which tend to find expression whenever we fail to exercise self-control. We should think of our own weaknesses when we see others fail. Again, behind everything is God, the real Actor. We should not be disturbed by the constant appearance of what seems to our limited understanding to be evil. His will and His plans are inscrutable, though worked through natural laws.

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

आत्मा न तो किसीसे कर्म करवाता है, न स्वयं करता है, वह कर्मफल से भी सम्बन्ध नहीं रखता, भौतिक प्रकृति के गुण ही सब-कुछ करते रहते हैं। ५–१४

The soul does not exercise any agency or perform action, nor is it concerned with the fruits of action. It is the qualities of material nature that carry on. (V-14)

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।

आत्मा का सच्चा स्वभाव ही यह है कि वह किसीके पाप या पुण्य से प्रभावित नहीं होता, सच्चा ज्ञान अज्ञान से ढँक जाता है, इसीसे लोग मोह में पड़ते हैं। ५-१५

The soul in its true nature is unaffected by evil-doing in any, or by kindness either. True understanding is darkened by ignorance, thereby are creatures deluded. (V-14)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ।।

भौतिक प्रकृति की शक्तियाँ (अर्थात् सत्व, रज और तम ये तीनों गुण) ही सचमुच सब कर्म करती हैं, और आत्मा अकर्त्ता है,—जो इस बात को समझता है, वही सत्य को जानता है। १३-३०

He sees the truth who perceives that the forces of material nature really bring about all actions, and that the Self is actionless. (XIII-30)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ।।

जब मनुष्य यह देखता है कि जीवों का अस्तित्व, अलग-अलग होता हुआ भी, एकही में स्थित है, और, जब यह भी समझ लेता है कि यह सारा पसारा उसी एक से उत्पन्न हुआ है, तभी वह ब्रह्म को पाता है। १३-३१

When one perceives the common basis of all diversified existence and how everything

shapes itself and spreads out from it, one realizes Brahma. (XIII-31)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

यह अविनाशी और शुद्ध आत्मा, अनादि और निर्गुण होने के कारण, शरीर में रहता हुआ भी, हे कौन्तेय ! न तो कुछ करता है, और न किसीमें लिप्त होता है। १३–३२

Being beginningless and without material qualities, the immutable and pure soul, though seated in the body, neither acts nor is affected. (XIII-32)

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

सत्व, रज और तम—इन गुणों से मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होते हैं, ये गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, आत्मा यद्यपि अविनाशी है, तथापि वह शरीर में रहता हुआ इन गुणों से बँध जाता है, और इन्हींसे संचालित होता है। १४–५

Goodness, the spirit of activity and inertia are the principles that move men; they are matter-born; while in the body the soul, though itself immutable, is tied up to and moved by those qualities. (XIV-5)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

जब द्रष्टा देख लेता है कि भौतिक प्रकृति के गुणों के अलावा कोई कर्त्ता है ही नहीं, और, जब वह उसेभी देख लेता है, जो इन

गुणों से परे या अतीत हैं, तब वह मेरे स्वरूप में आकर मिल जाता है। १४–१९

That man has attained My spirit who has realized that there is no agency other than the qualities of material nature, and who has seen that which stands higher than these qualities. (XIV-19)

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ।।

न तो इस पृथ्वी पर और न देवताओं के बीच स्वर्गलोक में ही कोई ऐसा है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से मुक्त हो। १८–४०

There is no being on earth or even in heaven among the gods that is liberated from these three qualities born of matter. (XVIII-40)

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।

हे कौन्तेय! तू अपने स्वाभाविक कर्मों से बँधा होने के कारण, उनसे विवश होकर, वह काम भी करेगा, जो मोह के कारण तू करना नहीं चाहता। १८–६०

That which you desire to abstain from through false notions, even that you will helplessly do, impelled by the motion of your own nature. (XVIII-60)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।।

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है, वह

अपनी माया से सबको यंत्र पर चढ़ी हुई कठपुतलियों की तरह नचा रहा है। १८–६१

The Lord dwells in the hearts of all beings, and through the force of *Maya* causes all beings to move like puppets on a revolving machine. (XVIII-61)

यहाँ पर 'माया' का अर्थ गुणों से बनी हुई भौतिक प्रकृति है। ऊपर के श्लोकों से यह सीखने को मिलता है कि मनुष्य जिन गुणों को पाकर अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करता है, उनसे ही उसके कर्मों का निर्धारण होता है। यदि कोई मनुष्य हमारी दृष्टि से गलत काम करता हो, तो हमें उसपर क्रोध या घृणा नहीं करनी चाहिए, और न अपने सत्कार्यों पर अभिमान करना चाहिए। इन श्लोकों का अर्थ यह न लगाया जाये कि मनुष्य पर कोई उत्तरदायित्व है ही नहीं। गीता में स्पष्ट बताया गया है, कि जिन गुणों को लेकर हमारा जीवन आरम्भ होता है उनसे मुक्ति तभी मिल सकती है, जब हम स्वयं प्रयत्न करके आत्मसंयम की साधना करलें। 'मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों से उत्पन्न और जन्म के साथ प्राप्त गुणों के अनुसार कर्म करते हैं और उन गुणों की उपेक्षा करना संभव नहीं है', यह शिक्षा दूसरों के प्रति उदार भाव रखने और अपने मन में शान्ति एवं स्थिरता लाने के लिए है, उत्तर-दायित्वहीनता सिखाने के लिए नहीं। कर्मों से गुण उत्पन्न होते ही हैं। यह सत्य टल नहीं सकता। परन्तु उनके कारण यदि हम दूसरों के प्रति अधिक उदार बनने के बदले क्रूरता और घृणा का व्यवहार करने लगें, तो यह गीता की शिक्षा के विपरीत होगा।

आत्मा एक अर्थ में वास्तविक कर्त्ता नहीं है, पर दूसरे अर्थ में है। गुण शरीर में स्थित हैं। वे इन्द्रियों और शरीर को प्रवृत्त करते हैं, और आत्मा को शरीर में बन्दी रखते हैं। तो भी आत्मा अलिप्त रहकर

गुणों को जीत सकता है। इसके लिए ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान केवल अध्ययन और ध्यान से प्राप्त नहीं होता। सच्चे और उपयोगी अर्थ में वह तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य अपने विचारों और कर्मों पर काबू पा ले। मनुष्य की प्रवृत्तियों को मोटे तौर पर सत्व, रज और तम में विभाजित कर लिया गया है। ये वृत्तियाँ प्रकृति से उत्पन्न होती हैं, और उसमें ही पोषण पाती हैं। और फिर, प्रकृति आत्मा का शरीर या चोला बनती है। परन्तु वृत्तियों या गुणों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता ही है। आत्मसंयम और सच्चे ज्ञान के प्रयोग से मनुष्य अपनी मुक्ति साध सकता है। वंशानुगत गुणों और भौतिक प्रकृति के तत्वों से उसकी इस सिद्धि में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। यदि वह आत्मसंयम और अनासक्ति से काम नहीं लेगा, तो वह अपने गुणों के भार से बँधा तो रहेगा ही, भार वह और भी बढ़ जायेगा।

Maya is here material nature constituted by the *Gunas*. The lesson of the above *slokas* is that the qualities with which men start on their life-journeys determine their activities. We should not be moved to anger or contempt if any one commits what we deem to be wrong, nor pride ourselves upon our own good actions. The *slokas* are not to be interpreted as if men were absolved from responsibility. The *Gita* makes it clear that it is only by personal effort and by the practice of self-control that we may be delivered of the character-load with which we began. That men are moved by congenital qualities born of previous *Karma*, which defeat all efforts at ignoring them, is a teaching to cultivate charity towards others and serenity in ourselves, and not a doctrine of irres-

ponsibility. It would be the reverse of what the *Gita* teaches if the inevitability of qualities resulting from *Karma* moves us to contempt or cruelty towards others, instead of making us more charitable.

The self is, in one sense, not the real actor, but in another sense he is. The *Gunas* have their roots in the body, lead the physical senses and the body, and hold the Spirit within as a prisoner. The Spirit, however, can detach itself and overcome the qualities. For this, however, *Jnana* (ज्ञान) is essential. *Jnana* is not a thing to be attained by mere study or meditation. It can be attained in a real and useful sense only by self-control in thought and action. The tendencies of men broadly classified as सत्त्व, रजस् and तमस् (*Sattva, Rajas* and *Tamas*) are matter-born and matter-bound, *i.e.,* have their origin and sustenance in the *Prakriti* which embodies the soul. But they have their resultant effect on the soul. By the exercise of self-control and true knowledge, a man can realize his own freedom, irrespective of these inherited qualities and principles of material nature. If he does not exercise self-control and practise an attitude of detachment, he will not only remain bound unto this load, but increase it.

प्रकरण ८

सबके लिए आशा

(अध्याय ४–श्लोक ११, अध्याय ७–श्लोक २०, २२,
अध्याय ९–श्लोक २३, २६, २७, २९, ३१)

कर्म के सिद्धान्त से हमें डरना नहीं चाहिए। परमात्मा का नियम या विधान अवश्य ही अटल है, परन्तु परमात्मा जहाँ विधान-स्वरूप है, वहाँ प्रेम-स्वरूप भी है। किसीको यह सोचकर हिम्मत हारने की जरूरत नहीं कि मेरे पाप तो बहुत बड़े हैं, या इनकी संख्या बहुत बड़ी है। प्रार्थना और प्रायश्चित्त से आत्मा शुद्ध हो जाता है। हिन्दू स्मृतियों और शास्त्रों में, कुछ भी कहा गया हो, गीता के अनुसार, भगवत्-कृपा प्राप्त करने में, स्त्री-पुरुष के भेद से अथवा जाति-भेद से भी, कोई अन्तर नहीं पड़ता।

CHAPTER VIII

HOPE FOR ALL

[Adhyaya IV—Sloka 11. Adhyaya VII—Slokas 20-22.
Adhyaya IX—Slokas 23, 26, 29, 31.]

THE doctrine of *Karma* should not frighten us. Law is immutable but God is Love as well as Law. There is none who need despair on the ground that his sins have been too great or too

many. Prayer and repentance purify the soul. According to the *Gita,* whatever might have been said in the Hindu codes of observances, neither sex nor caste makes any difference in the way of Grace.

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

मैं सब प्राणियों के लिए एकसमान हूँ, मुझे न कोई द्वेष्य अर्थात् अप्रिय है, न कोई प्रिय है; जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैंभी उनमें हूँ। ९–२९

The same am I to all beings; there is none hateful to Me, nor dear. They who worship Me with devotion are in Me, and so am I in them. (IX-29)

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यदि कोई बहुत बड़ा दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझे भजता है, तो उसकी भी गणना साधुजनों में होनी चाहिए, क्योंकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। ९–३०

If even he who has greatly erred turns to Me with single-minded devotion, he too must be counted among the good, for he has resolved well. (IX-30)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, और शाश्वत–अर्थात् सदा रहने-वाली–शान्ति पाता है, हे कौन्तेय! तू भलीभाँति यह जानले कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। ९–३१

Soon he becomes purified in spirit and attains abiding peace; know for certain that he who gives Me his devotion can never be lost. (IX-31)

जाति-भेद तथा स्त्री-पुरुष-भेद के कारण जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उनके बारे में विशेषरूप से कहा गया है :

And particularly referring to caste and sex disqualifications:

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।

हे पार्थ! जो भी मेरा आश्रय लेते हैं, फिर वे पापयोनि अर्थात् निम्न से निम्न स्थिति में पैदा हुए व्यक्ति भी क्यों न हों, और चाहे स्त्रियाँ, वैश्य या शूद्र ही हों– परमगति पाते हैं। ९–३२

They who seek refuge in Me, though born in the lowest condition, and be they women or Vaishyas or Sudras, they also attain the highest abode. (IX-32)

जहाँ तक कर्मों का सम्बन्ध है, सच्ची प्रार्थना और प्रायश्चित्त पापों का प्रतिकार कर देते हैं। इनसे पहले के किये हुए कर्म प्रभावहीन हो जाते हैं। परन्तु कोई मनुष्य इस बल पर जानबूझकर पाप नहीं कर सकता, कि बाद में उसका प्रक्षालन हो जायेगा। सहायता केवल सच्चे पश्चात्ताप से मिलती है, और उसका तरीका यह नहीं है। सच्चे पश्चात्ताप में तो स्वयं ही तीव्र मानसिक वेदना होती है। वह अपने-आप ग्रहण किया

हुआ दण्ड है। उससे पूर्वपाप शान्त हो जाते हैं और आगे के लिए सुधार हो जाता है। पर उसका यह असर उसी हदतक होता है, जहाँ तक कि उसकी पीड़ा सच्चे मन से सही जाती है।

प्रायश्चित्त, आत्मग्लानि और भगवत्कृपा पाने के लिए प्रार्थना—ये सब मन के कार्य या साधनाएँ हैं, केवल शब्दोच्चार, बाहरी उपचार या पुरोहितों द्वारा दी गयी पाप-मुक्ति नहीं। ये सब पश्चात्ताप की मनःस्थिति उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं, परन्तु उनमें स्वयं पाप को धो डालने की शक्ति नहीं है। मनुष्य अपने-आपको और दूसरों को धोखा दे सकता है, किन्तु स्वयं सत्य को तो नहीं दे सकता। कर्म अक्षय और अखण्ड सत्य है। आप रोगी को उसके तापमान के बारे में या अपने ग्राहक को बेची हुई वस्तु की तोल के बारे में धोखा दे सकते हैं, परन्तु स्वयं तापमापक यंत्र या तराजू को तो धोखे में नहीं डाल सकते।

उपासना की विधियों का विशेष महत्त्व नहीं है। वे भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती हैं, परन्तु वास्तव में सब एकही हैं। जिनको धार्मिक विभिन्नताएँ माना जाता है, उनके विषय में हिन्दू-धर्म का यह रुख ही सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण और अनूठा है।

Genuine prayer and repentance are counter-motions in the field of *Karma* and neutralise previous acts. But no one may deliberately indulge in sin on the assurance that the sin may later be washed away. True repentance, which alone can be of avail, does not come that way. Genuine penitence is a motion of the mind involving intense pain and is itself a self-imposed punishment, neutralizer and a corrective for past sins, but it so acts only in the measure that it is truly suffered.

Repentance and self-abasement and prayers for grace and mercy are operations of the mind, not words or ceremonies gone through or absolution procured from priests. Words and ceremonies and priests may be helpful through inspiring association, and as aids to focus the mind in penitent thought, but are not in themselves cleansers of sin. A man may deceive himself or others, but he cannot deceive Truth itself. And *Karma* is immutable Truth. You may mislead the patient about his temperature or deceive your customer about the weights of things sold to him, but you cannot cheat the thermometer or the scales themselves.

Forms of worship do not matter. They may vary, but are all in reality one. This is the great, all-important and unique attitude of Hinduism towards the so-called religious differences.

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

मनुष्य जिस प्रकार मेरा आश्रय लेते हैं, मैं उसी प्रकार उन्हें फल देता हूँ; क्योंकि, हे पार्थ ! मनुष्य उपासना का कोई भी मार्ग अपनायें, वे सब मुझमें ही आकर मिलते हैं। ४–११

In whatsoever way men approach Me, even so do I bless them, for whatever the paths that men may take in worship, they come unto Me. (IV-11)

कितने लम्बे समय पहले इस सत्य का साक्षात्कार हो चुका था, और मनुष्य-मात्र के मार्गदर्शन के लिए इतने जोरदार शब्दों में निरूपण भी

किया जा चुका था, इसे सोचने पर हिन्दूधर्म के आचार्यों की आध्यात्मिक महानता हमारी समझ में आ सकती है, और हम उसे श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देख सकते हैं।

When we consider how long ago this truth was seen and laid down for men's guidance in such emphatic terms, we are in a position to appreciate and admire the spiritual greatness of the fathers of Hinduism.

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

दूसरे देवताओं के भक्त भी, जो उन्हें श्रद्धापूर्वक भजते हैं, मुझे ही भजते हैं, कौन्तेय! यद्यपि उनका वह भजना विधिपूर्वक नहीं होता। ९–२३

Even the devotees of other gods who worship them full of faith, even they worship but Me, though irregularly. (IX-23)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

पत्ती, फल, फूल, जल, जो-कुछ भी मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित किया जाता है, उसे मैं साधना-निरत चित्त से भक्तिपूर्वक अर्पित किया हुआ मानकर आनन्द के साथ ग्रहण करता हूँ। ९–२६

Whatever is offered to Me with devotion, be it a leaf, a flower, a fruit or water, is eagerly accepted by Me as the devoted offering of a striving soul. (IX-26)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

तू जो-कुछ भी करे, जो खाये, जो होम करे, जो दान दे, और जो तप करे—वह सब, हे कौन्तेय ! मुझे अर्पण करके ही किया कर। ९–२७

Whatsoever you do, whatsoever you eat, whatsoever you offer in sacrifice, whatsoever alms you give, whatsoever penance you undergo, do it as an offering unto Me. (IX-27)

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

अनेक वासनाओं ने जिनका ज्ञान हर लिया है, वे अन्य देवताओं की उपासना करते हैं—अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग विधियों से। ७–२०

They whose understanding has been seized by various desires go to other gods, resorting to various external observances, conforming to their own natures. (VII-20)

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप (देवता) की आराधना सच्ची श्रद्धा से करना चाहता है, उस-उस स्वरूप में उसकी श्रद्धा को मैं ही दृढ़ करता हूँ। ७–२१

Whosoever the devotee and whatsoever the form worshipped with sincere faith, it is I who bestow on him that firm faith. (VII-21)

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान् ॥

फिर वह उस श्रद्धा से उस स्वरूप (देवता) की आराधना करने लगता है, और उसके द्वारा अपनी कामनाओं के फल प्राप्त करता है। उन फलों का विधान मैं ही करता हूँ। ७–२२

He, filled with that faith, seeks to worship such form. He obtains his desires, I verily decreeing them. (VII-22)

निःसंदेह, इस शिक्षा का सम्बन्ध उस समय की प्रचलित उपासना-विधियों से है। इससे यह प्रकट होता है कि उपासना किसीभी स्वरूप या देवता की हो, सबका अन्तिम लक्ष्य एकही है। हम यह दावा तो कर ही नहीं सकते कि जो अनेक धर्म और धार्मिक कृत्य बहुत बाद में आये, उनका भी उस समय विचार कर लिया गया था। फिरभी यह तत्त्व इतने व्यापक शब्दों में बताया गया है और इसके मूल सिद्धान्तों का आधार इतना उदार है, कि यह हर प्रकार के धर्म पर लागू हो सकता है।

This teaching, of course, referred to the unity of goal of all forms of worship that were prevalent at the time. We may not claim that the varieties of religions and religious practices that came into existence much later were then thought of. But the doctrine is stated in such wide terms and so broad-based on essential principle as to be applicable to every variety of religion.

प्रकरण ९

अनीश्वरवाद

(अध्याय १६–श्लोक ७–१८, २३, २४)

यह सत्य होने पर भी कि उपासना का रूप कोई भी हो, उससे परमात्मा प्राप्त होता है, गीता ने अनीश्वरवाद और भौतिकवाद की स्पष्ट निन्दा की है। उसमें भौतिक जीवन-पद्धति का वर्णन जिस भाषा में किया गया है, वह ऐसी जान पड़ती है, मानों आज के ही मानव-जीवन का उल्लेख किया जा रहा है। भौतिकवादी यह स्वीकार नहीं करता कि कोई चीज अपने-आप में ही सही या गलत होती है।

CHAPTER IX

GODLESSNESS

[Adhyaya XVI—Slokas 7-18, 23, 24.]

WHILE it is true that whatever may be the form of worship God is reached, the *Gita* condemns godlessness and materialism in no uncertain terms, describing the materialist code of life in language that seems almost to refer to present-day affairs.

The materialist does not admit that there is anything in itself right or wrong.

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥

असुर जन—अर्थात् बुरी वृत्तियोंवाले लोग—यह नहीं जानते कि अच्छे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए क्या करना ठीक है, और न वे यही जानते हैं कि बुराई टालने के लिए किस काम से बचना ठीक है; उनमें पवित्रता, सत्य और सदाचार भी नहीं पाया जाता। १६—७

Men born with evil tendency know neither what is right to do to achieve a good object, nor what is right to abstain from doing to avert evil; neither purity nor truth, nor even right behaviour is found in them. (XVI-7)

जीवन की भौतिक विचारधारा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—
The materialist theory of life is stated thus:

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

वे कहते हैं—जगत् का आधार सत्य नहीं है, न वह किसी आध्यात्मिक नियम पर टिका हुआ है, उसपर किसी ईश्वर का शासन नहीं है, जीवन यह कामना से पैदा हुए आकर्षण द्वारा पंचभूतों के संयोग से उत्पन्न हुआ है; इसके अलावा वह कुछ नहीं है। १६—८

The universe is not based on truth; it is not supported by any spiritual law; it is not ruled by God; life is brought about by the coming together of matter, by the attraction of desire, and nothing else; thus these men aver. (XVI-8)

अनीश्वरवाद उन्नति, सभ्यता, शोषण और युद्ध के झूठे विचारों की तरफ हमें खींच ले जाता है।

Godlessness leads to false ideas of progress and civilisation, exploitation and war.

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।।

जीवन के विषय में यह दृष्टि रखकर ये अल्पबुद्धिवाले नष्टात्मा लोग उग्र कर्म करते हैं, तथा जगत् के शत्रु बन जाते हैं, और उसे विनाश की ओर खींच ले जाते हैं। १६–९

Holding this view of life, these conscienceless men of small understanding undertake fierce deeds and become enemies of the world and lead it to destruction. (XVI-9)

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।

कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं का सहारा लेकर, दम्भ, मान और मद से भरे हुए, ये लोग, मोह से दुष्ट विचारों को ही पकड़कर, बुरे संकल्पों के साथ कर्म में प्रवृत्त होते हैं। १६–१०

Seeking to fulfil insatiable desires, moved by vanity, self-conceit and pride, holding to evil ideas obstinately through delusion, they engage themselves in action with impure resolves. (XVI-10)

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।।

मृत्युतक समाप्त न होनेवाली असंख्य चिन्ताओं में डूबकर कामोपभोग को ही परमलक्ष्य माननेवाले, और यह दृढ़ विश्वास रखनेवाले कि इसके सिवा संसार में और कुछ है ही नहीं। १६–११

Giving themselves over to unnumbered cares until death, regarding the gratification of desires as the highest object, believing firmly that there is nought else in the world. (XVI-11)

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥

आशाओं के सैकड़ों फंदों में जकड़े हुए, काम और क्रोध में डूबे, वे विषय-भोग के लिए अन्याय से धन इकट्ठा करने की चाह करते हैं। १६–१२

Held in bondage by a hundred cords of hopes and expectations, given over to lust and anger, they seek by unlawful means to hoard wealth for gratification of sensual desires. (XVI-12)

सत्ता और सम्पत्ति के मद का–चाहे वह व्यक्तिगत हो, चाहे दलगत या राष्ट्रगत–और उससे होनेवाले विनाश और अराजकता का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

The pride of power and possession, be it of the individual, the group or the nation, and the destruction and anarchy which it leads to are described below:

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

आज मैंने यह पा लिया, आगे यह मनोरथ पूरा करूँगा। यह धन तो मेरा है ही, वह भी शीघ्र ही मेरा हो जायेगा। १६–१३

"This has been acquired by me today, this purpose I shall gain; this wealth is mine, and this also shall be mine soon." (XVI-13)

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

इस शत्रु को तो मैंने मार लिया, आगे दूसरे शत्रुओं को भी मार डालूँगा, मैं शासन करता हूँ, भोग मेरी इच्छाके अधीन हैं, सिद्धियाँ मेरे वश में हैं, सुखी रहने के लिए ही मैं जन्मा हूँ। १६–१४

"I have destroyed this enemy, and others also I shall slay. I rule, I command pleasures, I am successful, I am strong, I am born to be happy." (XVI-14)

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

मैं श्रीमान् हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा – इस प्रकार के अज्ञान से विमूढ़ हुए। १६–१५

"I am wealthy, well-born; who else is there that is like me? I will perform sacrifices, I will give alms, I will enjoy." Thus deluded by ignorance. (XVI-15)

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

अनेक विचारों से भ्रमित, मोह-जाल में फँसे हुए, विषय-भोग में लिप्त ऐसे मनुष्य घोर नरक में गिरते हैं। १६–१६

Agitated by numerous thoughts, enmeshed in the net of delusion, and addicted to the gratification of desire, they fall into foul hell. (XVI-16)

जाति का दंभ, और तथाकथित संस्कृति या सभ्यता का झूठा अभिमान, या परोपकार भी उन पापों के परिणाम से बचा नहीं सकता, जिनकी नींव पर इन सबका भवन खड़ा हुआ है।

Pride of race and the vain glory of so-called culture or civilization, or even philanthropy cannot save them from the end to which the sins on which it is all founded must take them.

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

अपनी प्रशंसा करनेवाले, ऐंठ से बरताव करनेवाले, धन और मान के मद में चूर ये लोग दिखावे के लिए नाममात्र के और विधिविहीन यज्ञ करते हैं। १६–१७

Vain, stubborn, intoxicated by wealth and pride, they go in name through the performance of sacrifices for ostentation, contrary to rule. (XVI-17)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥

अहंकार, शक्ति-लोलुपता, घमंड, काम और क्रोध के अधीन ये

निन्दकजन दूसरों से, तथा अपने ही शरीर में रहनेवाले ईश्वर से द्वेष करते हैं। १६–१८

Given over to self-conceit, hunger for power, insolence, carnal desire and anger, these malicious ones hate God in the bodies of others and in their own. (XVI-18)

अन्तरात्मा की पुकार न सुनना, अपने-आपको बिगाड़ लेना या दूसरों को हानि पहुँचाना ईश्वर के प्रति किये गये द्वेष के समान हैं; क्योंकि ईश्वर सब के अन्तरात्मा में वास करता है, और उसके द्वारा दुःख भोगता है।

(अगले अध्याय में उद्धृत सत्रहवें अध्याय का छठा श्लोक भी देखिए)

जीवन के कोई भी नियम हों, यदि उनका आधार केवल वासना-पूर्ति है, तो वे विनाश की ओर ले जानेवाले हैं। क्या अच्छा है और क्या सही है इसका निर्णय मनुष्य को अपने पूर्वजों के अनुभवों से लाभ उठाकर करना चाहिए।

ईश्वर और सत्य की खोज के फलस्वरूप साधु-संत और ऋषि-मुनि ज्ञान की जो विरासत छोड़ गये हैं, वही शास्त्र है। मनुष्यजाति की प्रत्येक पीढ़ी के लिए सही मार्ग यही है, कि वह पहले की पीढ़ियों के अनुसंधान की नींव पर नया भवन खड़ा करे। नहीं तो हम 'सिसिफस' के समान अनन्तकाल तक पहाड़ पर पत्थर चढ़ाने जैसे निष्फल कार्य में लगे रहेंगे।

टिप्पणी–१. सिसिफस–यूनानी पौराणिक कथाओं का एक पात्र। इसे नरक में पहाड़ पर पत्थर चढ़ाते रहने का दण्ड दिया गया था। यह जो पत्थर बड़े परिश्रम से चढ़ाता, वह नीचे लुढक जाता, और यह उसे फिर से चढ़ाता था। यही क्रम बराबर चलता रहा। (अनुवादक)

Not listening to the inner voice and debasing oneself or doing injury to others is equivalent to hatred of God, for He abides in the souls of all men and, indeed, suffers through them. See also XVII-6, quoted in the next chapter.

Any code of life based on the satisfaction of mere desire leads to destruction. In deciding what is good and right, let men be guided by the experiences of those who have gone before.

The inheritance of knowledge that good and wise men have left behind as the result of their search for God and Truth is *Shastra*. It is right that each generation of the human race should build on the foundation of the results of the toil of previous generations. Otherwise we must be engaged like Sisyphus rolling the stone up for ever.

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर मनमाना करने लगता है, उसे न तो कोई सिद्धि मिलती है, न सांसारिक सुख। फिर परमगति उसे कहाँ मिलनेवाली? १६–२३

He who disregards the ordinances of the *Shastras* and follows the promptings of desire is not on the road to the highest goal, nor can he attain spiritual power or worldly happiness. (XVI-23)

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

इसलिए क्या करना चाहिए, और क्या नहीं, इसका निर्णय करने में तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रविधि क्या है, यह जानकर ही इस संसार में तुझे कर्म करना चाहिए। १६–२४

Therefore, let *Shastra* be thy guide in determining what ought to be done, or what ought not to be done. Guided by what hath been declared by the ordinances of *Shastra* you should engage yourself in work in this world. **(XVI-24)**

प्रकरण १०

आदर्श—तप—आहार

(अध्याय १७—श्लोक ३, ५—१०, १४—१६, २०—२२)

प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों के फल-स्वरूप अपना विशेष स्वभाव लेकर जन्म लेता है। उसी स्वभाव के अनुसार उसकी श्रद्धा बनती है। परन्तु जिस श्रद्धा का पोषण हम विवेकबुद्धि से करते हैं, उसकी भी प्रतिक्रिया हमपर होती है। इसलिए हमें अपने सामने अच्छे आदर्श ही रखने चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति और पसंद किये हुए आदर्शों के बीच होनेवाली क्रिया और प्रतिक्रिया नीचे के श्लोक में स्पष्ट की गई है। इस क्रिया और प्रतिक्रिया में ही उन्नति की आशा निहित है।

CHAPTER X

IDEALS—AUSTERITIES—FOOD

[Adhyaya XVII—Slokas 3, 5-10, 14-16, 20-22.]

EVERY man is born with a particular nature, the result of his *Karma*. According to this is shaped his faith. Yet the faith that we consciously nurse also reacts on us. We should, therefore, set for ourselves good ideals. The action and reaction between natural tendency and chosen ideals are brought out in the following *sloka*. Hope for progress lies in this interaction.

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

हे भारत! हरेक मनुष्य की श्रद्धा उसकी मूल प्रकृति के अनुसार बनती है, मनुष्य श्रद्धामय है। वह जिसपर श्रद्धा रखता है, वही वह भी हो जाता है। अर्थात्, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसाही बनता है। १७–३

Everyone's faith is fashioned according to one's essential nature. Man is made up of his faith; that in which a man places faith, he too is that. (XVII-3)

हमें अपना मन तो सही आदर्शों पर लगाना ही चाहिए, साथ ही अपने सब कर्मों को भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से नियमित करना चाहिए। कोई भी धार्मिक कर्म दिखावे या स्वार्थ-साधन के लिए नहीं करना चाहिए,–फिर चाहे वह यज्ञ हो या तप, उपासना हो या दान। केवल दंभ से या स्वार्थ की आशा से तप करना लाभकारक नहीं, उलटे हानिकारक होता है। अपने शरीर को कष्ट देना ही तप नहीं होता।

Not only should we fix our minds on right ideals, but all our activities should be regulated with a view to upward evolution. "Religious" acts, be it sacrifices, austerities, worship or alms-giving, should not be done for ostentation or for attaining selfish ends. There is not only no good but harm in austerities undergone merely for vanity's sake or in the hope of getting some advantage thereby. The mere tormenting of one's flesh is not penance.

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

जो लोग शास्त्र-विधि को छोड़कर घोर तप करते हैं—दम्भ और अहंकार से, काम और राग के आवेग से प्रेरित होकर, १७—५

The men who perform severe austerities, unenjoined by the scriptures, out of vanity and self-conceit, impelled by the force of their desires and passions. (XVII-5)

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

वे मूढ़जन शरीर के पंचमहाभूतों को ही नहीं, बल्कि शरीर में वास करनेवाले मुझे भी कष्ट देते हैं। तू यह जानले कि ऐसे मनुष्य आसुरी निश्चयवाले होते हैं। १७—६

These foolish men torment the elements forming the bodies, and Me also, dwelling within the body; know these as men of Asuric resolves. (XVII-6)

तप शरीर से, वाणी से और मन से भी किया जा सकता है। शारीरिक तप सरलता, पूज्यभावना, ब्रह्मचर्य और करुणायुक्त आचार द्वारा होता है। वाणी का या वाचिक तप सत्यमय, सौम्य और प्रिय वाणी में तथा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन और पाठ में है। मन में समभाव उत्पन्न करना और विचारों को पवित्र बनाना मानसिक तप कहलाता है। तप स्वार्थ-सिद्धि की इच्छा छोड़कर और उसे अपने-आपमें ही शुभ समझकर करना चाहिए। तप जब लोगों से सम्मान पाने के लिए या सिर्फ दिखावे के लिए किया जाता है, तब वह व्यर्थ होता है। और,

जब दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए या केवल हठ से किया जाता है, तब वह दुष्टतापूर्ण होता है।

Tapas or austerities may be performed in body, speech or mind. *Tapas* of body consists in conduct marked by rectitude, reverence, continence and compassion. *Tapas* of utterance consists in truthful, gentle and kindly speech, in the study and recital of scriptures. The cultivation of mental equilibrium and purity of thought is *Tapas* of mind. *Tapas* should be practised without desire for any selfish objects and as being good in itself. When done with the object of just gaining the respect of men or for ostentation, it is worthless, and when done in order to hurt others or in a spirit of mere obstinacy, it is wicked.

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

देवता, द्विज, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये सब कायिक (शारीरिक) तप कहलाते हैं। १७–१४

Worship rendered to the gods, to the twice-born, to the teachers and to the enlightened, clean life, rectitude, continence and non-violence are said to constitute austerity of the body. (XVII-14)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

मन में उद्वेग न पैदा करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारी वचन, धर्मग्रंथों का अध्ययन और पाठ–ये सब 'वाचिक' तप कहलाते हैं। १७–१५

Speech that causes no annoyance, and which is truthful, loving and beneficial, the study and recitation of the scriptures, these are declared to be austerities of the spoken word. (XVII-15)

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।

मन की शान्ति, सौम्यता, मौन, आत्मसंयम और विचार-शुद्धि – ये सब 'मानसिक' तप कहलाते हैं। १७–१६

Transquillity of mind, gentleness, reticence, self-control, purity of thought, these constitute austerity of the mind. (XVII-16)

दान जिस हेतु से किया जाता है, उसके अनुसार वह अच्छा, बेकार या उससे भी बुरा या घटकर होता है। दान प्रसन्नचित्त से करना चाहिए, खिन्न होकर नहीं। उसमें कर्त्तव्य की भावना होनी चाहिए, न कि प्रतिफल पाने की। पुण्य कमाने का भाव भी नहीं होना चाहिए। गीता में मनुष्य के कर्मों, कामनाओं, रुचियों–सारांश में, सभी कुछ तीन वर्गों में बाँट दिया गया है। पहला सात्विक है, उसमें सत्य और सामंजस्य की प्रधानता होती है। दूसरा राजसिक है, उसमें कर्म-प्रवृत्ति और काम-क्रोध आदि मनोविकारों की प्रबलता होती है। तीसरा और सबसे निचला तामसिक है, उसमें अकर्मण्यता सबसे प्रधान होती है।

Giving also is, according to the motive behind it, good, useless or worse. We should give gladly and not grudgingly, and in a spirit of duty and not in expectation of a returning obligation, or even to gain the merit of alms-giving. The *Gita* divides human activities, desires, tastes, and, indeed, everything, into three classes; the first wherein the spirit of truth and harmony dominates is *Sattvic;* the second wherein the urge to action, the passion-nature, dominates is *Rajasik;* the third and last in the scale is *Tamasik,* wherein inertia dominates.

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।

देना कर्त्तव्य है, यह मानकर जो दान अपने पर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है, और जो योग्य स्थान तथा काल में योग्य पात्र को दिया जाता है, वह दान 'सात्त्विक' कहलाता है। १७–२०

That gift is classed as pure which is made to one who is not expected to do something in return, and is made with the feeling that the gift is a duty and is also made in the right place and time to a worthy person. (XVII-20)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।

जो दान के बदले में कुछ पाने के लिए अर्थात् प्रत्युपकार की आशा से या फल पाने के उद्देश्य से किया जाता है, और जो खिन्न मन से दिया जाता है, वह 'राजसिक' माना जाता है। १७–२१

That which is given with a view to getting something in return or looking for merit, and what is given grudgingly, are deemed Rajasic gifts. (XVII-21)

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।

जो दान अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में और अयोग्य पात्र को दिया जाता है, और जो बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, वह 'तामसिक' माना जाता है। १७–२२

Gifs made without propriety of place and time, and to unworthy persons, disrespectfully or contemptuously, are deemed of the nature of Tamas. (XVII-22)

हम प्रतिदिन जो भोजन करते हैं, उसका असर हमारी मनोवृत्ति और चरित्र पर पड़ता है। वह आत्मा के लिए अच्छा और बलवर्धक अर्थात् सात्विक हो सकता है, या शान्ति-भंग करनेवाला और विकार पैदा करनेवाला, अर्थात् राजसिक हो सकता है, या बिल्कुल बुरा, मन, बुद्धि को क्षीण करनेवाला और अकर्मण्यता को बढ़ानेवाला, अर्थात् तामसिक हो सकता है।

The food we daily take has its effect on our psychology and character. It may be *Sattvik*, good and strengthening to the spirit; or destructive of serenity, passion-producing, *Rajasik;* or wholly bad, causing deterioration of mind and intellect and increasing inertia, *Tamasik*.

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।।

रुचनेंवाला आहार भी तीन प्रकार का होता है। इसी प्रकार यज्ञ, तप और दान भी। उसका भी भेद तू सुन। १७–७

The food liked by men is also of three kinds, as also sacrifice, austerity and alms-giving. Hear thou the distinction of these. (XVII-7)

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु और प्राणशक्ति, शारीरिक बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेंवाले आहार, जो सुस्वादु हों, पौष्टिक और तृप्ति करनेंवाले हों, सात्विक प्रकृति के लोगों को प्रिय होते हैं। १७–८

The foods that promote long life and vitality, bodily vigour, health, joy and amiability, which are pleasant to the taste, soft, substantial and satisfying, are liked by Sattvik natures. (XVII-8)

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, सूखे और दाहकारक आहारों की इच्छा रजोगुणवाले लोग करते हैं; ऐसे आहार रोग, दुःख और शोक पैदा करनेंवाले होते हैं। १७–९

The passionate desire foods that are bitter, sour, saline, over-hot, pungent, dry and burning. These produce sickness, pain and grief. (XVII-9)

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।

जो बहुत देर से रखा हुआ है, नीरस है, दुर्गन्धमय और बासी है, जो जूठा और गंदा भी है, ऐसा भोजन तामसिक स्वभाववाले लोगों को प्रिय होता है। १७–१०

Food that is not freshly made, food that has lost its flavour, stale food, and food that has gone putrid, leavings of food and food which is filthy, these appeal to men of Tamasik nature. (XVII-10)

प्रकरण ११

आत्मसमपर्ण और भगवत्कृपा

(अध्याय ९–श्लोक २२, अध्याय १०–श्लोक ९-११, अध्याय १२–श्लोक ५-७, अध्याय १४–श्लोक २६, अध्याय १८–श्लोक ६२,६४–६६)

गीता यह मानती है कि निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना कठिन है। इसलिए साधक को बताया गया है कि वह सृष्टि के प्रेममूर्ति शासक के रूप में साकार ब्रह्म की उपासना करे। उसे सदा स्मरण रखते हुए हमें सब काम करने चाहिए, और अपने सब कामों को उसकी ही सेवा और आराधना मानकर उसे समर्पित कर देना चाहिए। अन्त में उसका अनुग्रह ही हमें आत्मसंयम की शक्ति, ज्ञान और शान्ति देकर, तथा लोभ, संशय, दुर्बलता और भ्रान्ति से हमारी रक्षा करके हमारा उद्धार कर सकेगा। हिन्दू-धर्म का यह स्वरूप मोक्ष का 'भक्ति-मार्ग' कहलाता है। पर इस मार्ग पर चलने से अपने नियत कर्म करने में निःस्वार्थ और अलिप्त भावना रखने की आवश्यकता मिट नहीं जाती। दोनों मार्ग एक-दूसरे के विकल्प नहीं, बल्कि पूरक हैं। इन दोनों में किसका महत्त्व अधिक है, यह प्रश्न ही अनावश्यक है। गीता की शिक्षा के अनुसार इनमें से कोई भी प्रथम, और दूसरा उसका पूरक माना जा सकता है।

CHAPTER XI

SURRENDER AND GRACE

[Adhyaya IX—Sloka 22. Adhyaya X—Slokas 9-11. Adhyaya XII—Slokas 5-7. Adhyaya XIV—Sloka 26. Adhyaya XVIII—Slokas 62, 64-66.]

THE *Gita* recognizes the difficulty of worship in terms of the Impersonal and Absolute. The aspirant is, therefore, advised to practise contemplation of God in His personal aspect as loving Ruler of the universe. Ever keeping Him in mind, let us engage ourselves in all activities. and dedicate all our work to God as service and worship done unto Him. Ultimately it is His Grace alone that can save us, by giving us power of self-control, knowledge and peace, and protecting us from temptation, doubt, weakness and confusion. This aspect of Hindu faith is known as the *Bhakti* path of Salvation. It is, however, not an alternative to, but a complement of, the practice of an unselfish and detached attitude in the performance of the duties that fall to one's lot. There is no question as to which is the more important of the two, the seeking of Grace or the performance of duty. Either may be considered as the primary and the other as the complementary part of the *Gita* teaching.

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

जो लोग अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, और जो इस प्रकार नित्य परमात्मा से युक्त रहते हैं, उनके योग-क्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। ९–२२

I take upon Myself the concern for the welfare of those who worship Me with undistracted mind, and have thereby yoked themselves permanently to Divine Spirit. (IX-22)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

वे मुझमें अपने चित्त को पिरोये रखते हैं, अपना जीवन मुझे अर्पित कर देते हैं–अर्थात् मेरे लिए ही जीते हैं, परस्पर मेरे विषय में बोध करते और कराते हैं, और नित्य मेरी चर्चा करते हुए संतोष और आनन्द पाते हैं। १०–९

They fill their thoughts with Me, they live for Me, they find their joy and their only satisfaction in constantly conversing and enlightening one another about Me. (X-9)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

सदा एकरस रहनेवाले इन प्रेमी भक्तों को मैं बुद्धि-योग देता हूँ, और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं। १०–१०

To these, ever-harmonised, loving devotees, I give the *Yoga* of spiritual understanding and thereby they come unto Me. (X-10)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

उनपर अपनी कृपा के कारण, उनके अज्ञान-अन्धकार को, उनके अंतरात्मा में रहकर, तेजोमय ज्ञान-दीप से मैं नष्ट कर देता हूँ। १०-११

Out of My compassion for them, dwelling within their souls I dispel the darkness of their ignorance with the shining light of true understanding. (X-11)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

जिनके मन 'अव्यक्त' में आसक्त हैं—अर्थात् जो निर्गुण-निराकार ब्रह्म को पाने की साधना में लगे हुए हैं, उनको क्लेश अधिक सहना पड़ता है, क्योंकि देहधारी या देहाभिमानी के लिए अव्यक्त को पाने का मार्ग बहुत कष्टसाध्य है। १२—५

The task of those whose minds seek to realise the Unmanifest is one of great difficulty, for the Unmanifest is hard for the embodied to realise. (XII-5)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

जो अपने सारे कर्म मुझे समर्पित कर देते हैं, और मत्परायण हो जाते हैं—अर्थात् मुझे पाने के प्रयत्नों में लीन हो जाते हैं, और अनन्य-निष्ठा से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं। १२—६

Those who dedicate all their actions to Me, and are wholly intent on attaining Me, and concentrate their minds in meditation of Me. (XII-6)

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।

उनका मैं उद्धार कर देता हूँ—इस मृत्यु और जीवनरूपी सागर में गोते लगाते रहने से; जिनका मन इस प्रकार मुझसे ओतप्रोत रहता है, हे पार्थ! इसमें मैं विलम्ब नहीं करता। १२–७

Those whose minde are fixed thus on Me, I speedily save them from being tossed about in the ocean of life and death. (XII-7)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

जो एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी उपासना करता है, वह तीनों गुणों की सीमा को पार कर लेता है, और ब्रह्म में लीन होने के योग्य हो जाता है। १४–२६

He who worships Me with unswerving devotion crosses the barriers of inherited qualities and fashions himself for absorption into the Eternal. (XIV-26)

ऐसा माना जाता है कि नीचेलिखे श्लोकों में गीता की शिक्षा का सार समाया हुआ है, और उसका अन्तिम निष्कर्ष भी। परमेश्वर के प्रति पूरा आत्मसमर्पण और उसकी कृपा से पूर्ण अवलम्बन के सम्बन्ध में इससे अधिक दृढ़ आग्रह और कहाँ मिलेगा?

The following *slokas* are believed to contain the essence of the *Gita* teaching and the last word on the subject. There can be no stronger insistence on complete surrender to God and dependence on His Grace:—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

तू उसकी शरण ले और हे भारत! कोई दूसरा भाव मन में न आने दे; उसकी कृपा से तू परमशान्ति और अविनाशी स्थान प्राप्त करेगा। १८–६२

Put your trust in Him and have no other thought; by His Grace you will attain supreme peace and the everlasting abode. (XVIII-62)

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

तू फिर से मेरा यह परमवचन सुन, जो सबसे गुह्य है, तू मुझे प्रिय है, इसलिए मैं तेरे हितार्थ जोर देकर वह कहता हूँ। १८–६४

Listen again to My supreme word, most secret of all. You are dear to me, therefore, I emphatically declare it for your benefit. (XVIII-64)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त बन, मेरे लिए ही यज्ञ कर और मुझे नमस्कार कर; मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तू अवश्य ही मुझे प्राप्त करेगा, क्योंकि तू मुझे प्रिय है। १८–६५

Give all your thoughts, your worship, your sacrifice and your salutations to Me, and you shall certainly come to Me; I pledge my troth to you who are dear to Me. (XVIII-65)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मों को छोड़कर अर्थात् विधि-विधानों पर निर्भर न रहकर, तू तो एक मेरी ही शरण ले; शोक मत कर, मैं तुझे सारे पापों से छुड़ा दूँगा। १८–६६

Do not depend on articles of faith or rules of observance, but surrender yourself completely to Me; grieve not, I will liberate you from every sin. (XVIII-66)

ईश्वर के सिवा और कोई कुछ नहीं कर सकता। हमारे पाप कैसे भी हों, यदि हमें उनपर सच्चा पश्चात्ताप है, और हम अपने-आपको उसकी कृपा पर छोड़ देते हैं, तो वह निस्संदेह हमारा उद्धार करेगा।

Nought avails but God and He will save us without doubt, whatsoever be our sins, if we grieve for them and surrender ourselves to His Grace.

प्रकरण १२

सृष्टि की एकता

अध्याय ५–श्लोक १६, १८, अध्याय ६–श्लोक २९–३१, अध्याय ८–श्लोक ९, १०, १२–१४, १८–२०, २२, अध्याय १८–श्लोक २०, ४५–४९)

अपने आचार-व्यवहार को नियमित, और मन को नियंत्रित करके, तथा अपने सब कर्मों को उपासना के रूप में परमेश्वर को समर्पित कर साधक यथासमय सारी सृष्टि की एकता का साक्षात्कार करता है। गीता के अनुसार, सब प्राणियों के साथ अपना, एवं परमेश्वर के साथ सब प्राणियों का अभेद स्थापित करना ही सच्चा ज्ञान है। साधक को इसीकी साधना करनी चाहिए, जिससे उसका आत्मा अज्ञान-अन्धकार का आवरण हटा दे। जो सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसकी विशुद्ध दृष्टि में संस्कारी और असंस्कारी, ऊँच और नीच तथा एक और दूसरी जाति के प्राणियों का भेद नहीं रहता। 'कुत्ते का मांस खानेवाला' तक अन्यों के साथ एकरूप हो जाता है।

CHAPTER XII

THE ONENESS OF EXISTENCE

[Adhyaya V—Slokas 16, 18. Adhyaya VI—Slokas 29-31. Adhyaya VIII—Slokas 9, 10, 12-14, 18-20 22. Adhyaya XVIII—Slokas 20, 45-49]

REGULATING conduct, controlling the mind, and dedicating all activities as worship unto the

Supreme Being, the aspirant realises in course of time the oneness of all existence. The identification of self with all life and of all with the Divine is the *Jnana,* which the *Gita* wants the disciple to strive to attain, so as to liberate the soul from the enveloping darkness of ignorance. Differences between the cultured and the uncultured, distinctions of high and low and even of one life-form from another, all melt away in the enlarged and clarified vision of the man who attains true enlightenment. Even the "eater of dog's meat" becomes one with the rest.

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

परन्तु आत्मज्ञान से जिनके अज्ञान का नाश हो जाता है, उनमें सूर्य के सदृश दमकता हुआ ज्ञान परमतत्त्व को प्रकाशित करता है। ५–१६

When ignorance is dispelled by knowledge of the Self, knowledge shining like the sun reveals the Supreme. (V-16)

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

विद्वान् और विनयवान् ब्राह्मण को, गाय को, हाथी को, और कुत्ते को तथा कुत्तों को खानेवाले को भी ज्ञानी समदृष्टि से देखते हैं। ५–१८

Sages look with equal eye on a Brahmana rich with learning and culture, or a cow, or an

elephant or even a dog or an eater of dogs. (V-18)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सब प्राणियों में वह अपने आपको तथा सब प्राणियों को अपने-आप में स्थित देखता है। योग द्वारा ज्ञान-प्राप्त पुरुष की दृष्टि में सब समान हैं। ६–२९

The soul, enlightened by Yoga, sees himself in all beings, and all beings in himself; all are equal in his eye. (VI-29)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो सबमें मुझको देखता है, और सबको मुझमें देखता है, मैं सदा उसके साथ रहता हूँ, और वह मेरे साथ सदा रहता है। ६–३०

He who sees Me in everything, and sees everything in Me, to him I am ever present and he is ever present to Me. (VI-30)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

जिसने दृढ़तापूर्वक एकत्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, और जो मुझे प्राणिमात्र में वास करनेवाले के रूप में भजता है, वह चाहे जैसे रहता हुआ भी योगी है, और वह मुझमें ही वास करता है। ६–३१

He who has firmly realised unity and worships Me as abiding in all beings, howsoever he be engaged, is a *Yogi* and abides in Me. (VI-31)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।

जब किसी मनुष्य को उसका ज्ञान सब प्राणियों में अविनाशी एकत्व का दर्शन कराता है और विविध रूपों में वह जब एकही अविभक्त तत्त्व को देखता है, तब उसका ज्ञान तू सच्चा समझ। १८–२०

When the understanding enables one to see an immutable oneness in all beings, and an undivided whole in all the manifold shapes, know that to be the true Light. (XVIII-20)

गीता सर्वव्यापी एकत्व की साधना और आत्मसंयम के ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों का प्रतिपादन करती है। वह तत्वज्ञानी के केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। वह एक ऐसा धर्म-ग्रंथ है, जिसमें स्त्री-पुरुषों से हार्दिक अनुरोध किया गया है कि वे उसकी शिक्षा के सांचों के अनुसार अपने-अपने जीवन को ढालें, और ऐसा करने में देरी न करें। उसकी शिक्षा छोटों के लिए भी है, और बड़ों के लिए भी, अत्यन्त कार्य-व्यस्त लोगों के लिए भी है, और जीवन-संघर्षों से निवृत्त लोगों के लिए भी। वह सभी कालों के लिए उपयोगी है। परन्तु दूसरे सर्वकालीन धर्म-ग्रंथों के समान ही उसेभी, उस देश-काल की सामाजिक व्यवस्था की भूमिका के आधार पर, पढ़ना चाहिए, जिसमें कि वह लिखी गई थी। गीता इसलिए नहीं लिखी गई थी कि आजकल की गति-विधियों के बारे में उसको प्रमाण के रूप में पेश किया जाये। और, यदि वह इस उद्देश्य में पूरी नहीं उतरती, तो इसे लेकर उसकी आलोचना करना न्यायपूर्ण या बुद्धिसंगत न होगा। परन्तु उसमें जो सिद्धान्त बताये गये हैं, उनसे आजकल के समानता-प्रचारक आन्दोलनों में भी मदद तो मिल ही सकती है। नीचे दिये हुए श्लोकों में समस्त कर्मों की समानता और उदात्त भावना का जो आग्रह है, उसे जन्म-सिद्ध उच्च-

नीच भेद कायम रखने का निमित्त मान लेना गलत होगा। उसका न्यायोचित अर्थ लगाना चाहिए। गीता में वर्ण-व्यवस्था और जन्मानुसार नियत कर्मों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया गया है। इसीके आधार पर सारी शिक्षा का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु इस आधार पर उसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह इन प्रथाओं का सदा के लिए समर्थन कर रही है। गीता में जिस बात पर जोर दिया गया है वह तो यह है कि मनुष्य सामाजिक आचार का पालन करे, और समाज में उसकी जो स्थिति हो उसके नियत कर्तव्यों को वह ईमानदारी से निभाये। गीता बताती है कि किसीभी सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न समुदायों को जो भिन्न-भिन्न कर्त्तव्य सौंपे जाते हैं उनमेंसे कोई भी ऊँचा या नीचा नहीं होता। समाज के निर्वाह के लिए सारे ही कर्त्तव्य एक-समान आवश्यक होते हैं। उन सबको बिना उपेक्षा और अव्यवस्था के, तथा निःस्वार्थ सामाजिक सहयोग की भावना से करना चाहिए। यह शिक्षा हर हालत में एक-समान लागू होती है—चाहे वह सामाजिक सहयोग वर्ण-व्यवस्था के आधार पर हो, चाहे उसके बदले में स्थापित होनेवाली वर्तमान की या भविष्य की किसी अन्य सामाजिक व्यवस्था के आधार पर। संसार में ऐसा काम कोई नहीं है, जिसके बारे में मनुष्य यह कह सके कि "यह अच्छा काम है और उदात्त है, इसमें कोई बुराई नहीं है, इसलिए मैं अपने नियत काम के बदले इसेही करना पसन्द करूँगा।" संसार में जो कुछभी किया जाता है, उस सबमें कुछ-न-कुछ दोष अवश्य दिखलाई पड़ता है। पर उसे निर्दोष और उत्तम बनाने का भी एक साधन है निःस्वार्थ भाव। कर्म किया जाना चाहिए, भली भाँति किया जाना चाहिए, स्वार्थ-कामना की पूर्ति के लिए नहीं, किंतु लोक-संग्रह के निर्वाह के लिए किया जाना चाहिए, यह मानना चाहिए कि सामाजिक सहयोग असल में परमेश्वर की आराधना है। गीता की यह शिक्षा हर तरह की समाज-व्यवस्था पर लागू होती है—

चाहे वह अत्यन्त प्राचीन हो, चाहे अत्यन्त आधुनिक। निःस्वार्थ सहयोग के आग्रह को, और इस तर्क को कि, मन के ऐसे भाव से सब कर्म समान और उदात्त बन जाते है, किसी विशेष समाज-व्यवस्था का समर्थक समझने की गलती नहीं करनी चाहिए।

The *Gita* lays down the highest ideals of self-control and realisation of all-embracing oneness. It is not mere philosopher's amusement, but an earnest appeal to men and women to shape their lives according to its teaching and to do so at once. The *Gita* teaching is for the young as well as for the old; for the most busy man of action as for those who have done with the turmoil of life. The *Gita* is a book for all time, no doubt; but even like other holy books, which are for all time, its words must yet be read on the background of the social order of the time and place wherein the book was written. It was not made to be quoted as authority for modern movements. Nor can its inadequacy to serve such a purpose be a just or sensible criticism of it. What the *Gita* lays down is sufficiently emphatic to be helpful as authority even for modern movements of equality. Its insistence in the following *slokas* on the equivalence and nobility of all work should not be misinterpreted as an apology for maintaining the distinctions of high and low based on birth to which they refer, but should be given its just meaning. The caste system and occupations fixed by birth are taken for granted in the book, and teaching is developed thereon. It cannot be interpreted for that reason as a defence

of the system for all time. What the *Gita* emphasizes is that everyone should observe the code of honour and perform the duties of his allotted station in society. It lays down that there is in truth no superiority or inferiority in the various duties allotted to various groups in any social order, all being equally necessary of performance for the maintenance of society. It lays down that they should all be performed without neglect or confusion, and in the spirit of unselfish social co-operation; this teaching has equal validity whether the social co-operation demanded be in accordance with the caste system, or any social order that has replaced it or which may be accepted by society in the future. There is no work about which one can say, "this is noble and good, free from all evil, and I shall, therefore, prefer to do it rather than that which has been allotted to me." In every thing to be done in this world, some apparent evil is involved, but there is a purifying and ennobling agent for it all, *viz.*, the unselfish attitude. The teaching that work should be done and done well, not for the gratification of selfish desire but for the carrying on of social life, and that social co-operation is, indeed, worship of God, is applicable to every system of social organisation, be it the most ancient or the most modern. The insistence on co-operation without selfish motives, and the plea that such an attitude of mind ennobles and equalises all tasks should not be misread as a plea for any particular form of social order.

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।

मनुष्य अपने-अपने कर्त्तव्य में लगे रहने से सिद्धि अर्थात् सफलता पाता है, अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस तरह सफलता पाता है, सो तू मुझसे सुन। १८–४५

Man reaches proper fulfilment by each being intent on his own duty. Let Me tell you how the goal is attained by him who is intent on his own duty. (XVIII-45)

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

जिससे ये सब प्राणी पैदा हुए हैं, और जिससे यह सब-कुछ व्याप्त है, उसकी आराधना अपने-अपने नियत कर्म करने में है; इस प्रकार की आराधना से ही मनुष्य को सिद्धि मिलती है। १८–४६

The performance of one's own duty is worship of Him from Whom have emanated all beings, and by Whom all this is pervaded, and by such worship a man attains the goal. (XVIII-46)

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।

अपना धर्म—अर्थात् स्वाभाविक कर्त्तव्य—सम्मानित न होते हुए भी, दूसरे के धर्म से अधिक कल्याणकारी है, भले ही उस धर्म का आचरण अधिक अच्छी तरह होता हो; जो अपने स्वभाव द्वारा नियत कर्म करता है, उसे पाप नहीं लगता। १८–४७

Better is one's own duty, though unhonoured, than the work of another even if well performed. He who does the work indicated by his own nature incurs no sin. (XVIII-47)

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

हे कौन्तेय! सहज याने जन्म के साथ लगे हुए कर्मों को, सदोष होने पर भी, त्यागना नहीं चाहिए। यों दोषों से तो सारे ही कर्म ढँके रहते है, जैसे धुएँ से अग्नि ढँकी रहती है। १८–४८

The work to which you are born, though involving defects, ought not to be abandoned. All undertakings, indeed, are clouded by defects as fire by smoke. (XVIII-48)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥

जिस मनुष्य का अन्तरात्मा उसके कोई भी काम करने पर अनासक्त रहता है, जिसने अपने-आपको जीत लिया है, और जिसमें कोई इच्छा बाकी नहीं रही, वह इस प्रकार के संन्यास से नैष्कर्म्य की परमसिद्धि पाता है, जो कर्म-त्याग का लक्ष्य है। १८–४९

He who holds his inner Spirit unbound, whatever he may do, whose self is well-controlled and who is free from desire, attains by such renunciation that supreme goal which is the aim of renunciation of action. (XVIII-49)

साधक को चाहिए कि जन्म, जीवन, मृत्यु और विलोप के जो तमाम दृश्य दिखाई देते हैं उनके पीछे पूर्ण शाश्वत ब्रह्म है। वह उसका एकाग्र मन से ध्यान करे। सृष्टि और प्रलय केवल दिखाई देना तथा

दृष्टि से ओट हो जाना है। जैसे, किसी बच्चे को दिन और रात के चक्र में संसार का प्रकट होना और मिट जाना दिखलाई पड़ता है। सृष्टि और प्रलय ब्रह्म का जागना और सोना, या उसके दिन और रात हैं। सच्चा प्रकाश पा जाने पर मनुष्य को सृष्टि की परमएकता की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसी परमएकता का ध्यान और साक्षात्कार करना योग का हेतु और लक्ष्य है।

The aspirant should meditate on the Absolute and Eternal behind all the manifestations of birth, life, death and disappearance. Creation and destruction are mere appearance and disappearance, analogous to what a child may see in the appearance and disappearance of life in the cycle of day and night. They are but the waking and sleeping, the day and night of *Brahma*. When man gets true Light, he realises the Supreme unity of Existence. The contemplation and realisation of this supreme oneness is the end and aim of *Yoga*.

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।

जो अनन्य भाव से निरंतर मेरा चिंतन करता है, और कभी किसी दूसरे का स्मरण नहीं करता, और जो नित्य आत्म-युक्त रहता है, वह योगी, हे पार्थ ! मुझे सरलता से पाता है। ८–१४

To him who constantly meditates upon Me, not letting his thoughts swerve aside, to him who is ever yoked to the Spirit, I am easy of attainment. (VIII-14)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

दिन होने पर अव्यक्त में से सब व्यक्त रूप प्रकट होते हैं, रात के आने पर वे फिर अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं। ८–१८

From the unmanifested all the manifested issue at the coming of day; at the coming of night they again disappear into what is termed the unmanifested. (VIII-18)

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

प्राणियों का यह सारा समुदाय इस प्रकार प्रकट हो-होकर विलीन होता रहता है; हे पार्थ! यह रात्रि आने पर अवश होकर विलीन हो जाता हैं, दिन आने पर अवश होकर ही प्रकट होता है। ८–१९

This totality of life is thus involuntarily brought forth, repeatedly disappearing at the coming of night and appearing at the coming of day. (VIII-19)

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

इस अव्यक्त से परे एक अन्य अव्यक्त और सनातन तत्त्व है, जिसका नाश, सब प्राणियों के नष्ट हो जाने पर भी, नहीं होता। ८–२०

There exists higher than this unmanifested another unmanifest Entity, ever abiding, which, when all things disappear, is not itself destroyed. (VIII-20)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

हे पार्थ ! वह परमपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होता है, उसीमें सब स्थित है, उसीसे यह सारा जगत् व्याप्त है । ८–२२

That Transcendent One, in Whom all beings abide, by Whom all this world is pervaded, may be reached by unswerving devotion. (VIII-22)

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात्।।

जो उस सर्वत्र, पुरातन, शास्ता, अणु से भी सूक्ष्म पुरुष का स्मरण करता है, जो सबका धारण-पोषण करनेवाला, अचिन्त्य-रूप, सूर्य के समान देदीप्यमान और अन्धकार से परे है । ८–९

He who contemplates on the All-knowing, the Ancient, the Ruler, minuter than the atom, the Supporter of all, of form inconceivable, refulgent as the sun, casting no shadow. (VIII-9)

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

वह अन्तकाल में एकाग्रचित्त से भक्तिमय होकर, और अपने योगबल से प्राणों को खींचकर अपनी भौंहों के बीच स्थिर करके उस दिव्य परमपुरुष में जा मिलता है। ८–१०

At the time of death, with steady mind, full of devotion, by the power of *Yoga* drawing together his life-energy into the space between the eye-brows, he goes to the Spirit transcendent and divine. (VIII-10)

प्रकरण १३

अद्वैत और गीता का अनुशासन

अद्वैत सिद्धान्त के सम्बन्ध में केवल सुना हुआ या ऊपर-ऊपर का ज्ञान रखनेवाले लोग यहाँ एक प्रश्न उठा सकते हैं। यह यदि आत्मा का अलग अस्तित्व माया का परिणाम है और केवल ईश्वर का ही अस्तित्व सत्य है, तो फिर तथाकथित मोक्ष के लिए यह कष्टसाध्य प्रयत्न क्यों किया जाये ? हम इस सत्य को जानकर ही संतोष क्यों न कर लें कि अस्तित्व केवल ईश्वर का है ? यह अवश्य ही सोचा जा सकता था, यदि माया केवल दृष्टि का विषय होती। लेकिन माया ने तो अपना प्रभाव हमारी आँखों पर ही नहीं, हरेक इन्द्रिय और मन पर भी डाल रखा है, और जीवात्मा में आसक्ति, विकार और खलबली पैदा कर दी है। इसलिए हमारा काम आँखों को सिर्फ मल लेने से न चलेगा। जीवन के अणु-अणु को सत्य के प्रति जागना पड़ेगा, क्योंकि माया हमारे अन्तरतम तक व्याप्त है। फिर, इतना जान लेना ही काफी नहीं कि हमें जागना चाहिए। 'प्रत्यक्ष जाग जाना' आवश्यक है। हमारी इस यथार्थ और पूर्ण जागृति को ही मोक्ष कहते हैं। इसे चाहे माया से जागृत होने के ऊपर उपाय से प्राप्त किया जाये, या आत्मा का सच्चा और अलग अस्तित्व मानकर आत्मा की शुद्धि और उसकी मुक्ति का क्रम कहा जाये—दोनों हालतों में साधना की पद्धति एकही है।

विषय-भोगों और उनमें होनेवाली आसक्ति से माया का प्रभाव बढ़ता और दृढ़ होता है। माया से छुटकारा पाने के लिए उनको छोड़ना आवश्यक है। गुरु से प्राप्त यह ज्ञान कि ईश्वर और आत्मा एक

ही हैं और हम मायाजनित अज्ञान के कारण उन्हें भिन्न मानते हैं, मुक्ति या पूर्ण जागरण में सहायक हो सकता है, पर केवल उतनाही काफी नहीं है। उसके लिए सच्चा व्यक्तिगत प्रयत्न आवश्यक है। जैसे-जैसे हम सच्चे ज्ञान की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे अपने-आपको विकारों और आसक्तियों से मुक्त करने के इन व्यक्तिगत प्रयत्नों की आवश्यकता कम होती जाती है। जिस हद तक हम लक्ष्य की ओर पहुँचने में प्रगति कर लेते हैं, उस हद तक वह कम हो जाती है।

यदि जीवात्मा को मायाजनित या उसका परिणाम माना जाये तो उसकी मुक्ति का उपाय यह होगा कि व्यक्तिगत अस्तित्व की कल्पना पैदा करनेवाले भ्रम का निवारण किया जाय। यदि पृथक्, अनादि, स्वतन्त्र और पंचतत्त्वों से घिरा हुआ माना जाये, तो उसे ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनने की साधना द्वारा अपनी मुक्ति का प्रयत्न करना पड़ेगा। दोनों हालतों में साधना का क्रम एकही होगा। आत्मा का पृथक् अस्तित्व यदि केवल भ्रम है, तो विषय-भोग के प्रति आसक्ति, और काम, क्रोध तथा लोभ उस भ्रम को बढ़ानेवाले हैं, और उनका निवारण करना ही होगा। सच्ची भ्रम-निवृत्ति से पाप और आसक्तियों का अन्त आप-ही-आप हो जायेगा। दूसरी दृष्टि से देखा जाये, तो निःस्वार्थ कर्त्तव्य-पालन, पवित्र जीवन और मन के समत्व से परदे के पीछे छिपे हुए सत्य का साक्षात्कार होना ही चाहिए। जहाँ आसक्तियों का अन्त नहीं हुआ, वहाँ हम मान सकते हैं कि हमारा ज्ञान सच्चा नहीं है, सिर्फ सिद्धान्तों को जबान से दोहराया जा रहा है, साथही अन्दर भ्रम बढ़ता जा रहा है, घटता नहीं। सच्चे ज्ञान का लाभ और माया के निवारण का उपाय भी वही है, जो द्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा को पृथक् आध्यात्मिक तत्त्व मानकर कर्म से मुक्ति पाने के लिए बताया गया है। इन दृष्टियों से गीता सभीको जीवन का सच्चा मार्ग बतानेवाला धर्म-

ग्रंथ है। जीवात्मा के अन्तिम स्वरूप के बारे में मत-मतान्तर होने पर भी उसकी इस सार्वभौमिक उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

CHAPTER XIII

ADVAITA AND GITA-DISCIPLINE

A QUESTION may be raised at this stage by those who have only heard of or have a superficial acquaintance with the doctrine of *Advaita*. If the Soul's separate existence is the result of illusion and God alone exists, why should there be this toilsome effort at so-called liberation? Why should we not rest content with knowing the truth that God alone exists? This might well be so, were the illusion a mere optical illusion. The *Maya* has wrought its effect not only on the eyes but on every one of our senses and on our minds, and has produced attachments, passions and turmoils of the soul. Rubbing the eyes alone will not do. We must wake up every atom of our being to the reality, because the illusion goes to the depth of our very being. Again, it is not enough to know that we should wake up. It is necessary actually to wake up. This real and thorough awakening of our being is called liberation, and the process is just the same whether it proceeds on this basis of waking up from an illusion, or is deemed a process of self-purification and liberation of the *soul* as a real and separate entity.

Sense-enjoyments and attachment thereto confirm and add to the illusion. It is necessary to get rid of them in order to dispel the *Maya*. The knowledge gained from the teacher, that God and Soul are one, but for ignorance born of *Maya*, may be an aid in the process of liberation or waking up, but that by itself is not enough. The need for personal effort to free oneself from passions and attachments diminishes as one approaches the goal of true enlightenment, and diminishes in the measure of our progress towards it.

Whether the individual soul be treated as a result of *Maya*, liberation consisting, then, in the removal of the illusion that brought about the idea of individual existence, or whether it be considered that the individual soul is a really separate entity beginningless, free and clothed in matter, which must work out its salvation by fitting itself for being received by God—in either case, the process to be gone through is identical. If the Soul's separate existence is an illusion, attachment to the objects of sense-enjoyment, and lust, greed and anger add to the illusion and must be avoided. With real disillusionment, sins and attachments must automatically cease. Conversely, a pure life and unselfish performance of duties and serenity of mind lead to realisation of the truth behind the veil. Where attachments have not ceased, we may take it that the knowledge is unreal, and that only lip-

service is being rendered to theory, and the illusion within is increasing, not diminishing. True *Jnana* can come, and great illusion be dissolved only by the same process as has been prescribed for liberation from *Karma* on the basis of the soul being a separate spiritual entity according to the *Dvaita* Philosophy. Thus it is that the *Gita* is a book of Life for all, irrespective of differing creeds as to the ultimate nature of the individual Soul.

प्रकरण १४

भगवद्दर्शन

(अध्याय ११-श्लोक ९, १२, १३, १५-१८, ३८-४०, ४३, ४४)

गीता के ग्यारहवें अध्याय में जिस प्रसंग का वर्णन आया है, उसे एक चमत्कार ही कहा जाता सकता है। उसमें अर्जुन को भगवान् का विश्व-रूप दिखलाया गया है, जिसके सामने भलाई और बुराई, सुख और दुःख, प्रकाश और अन्धकार के द्वंद्व मिट जाते हैं। विश्वात्मा का यह विराट् रूप इतना तेजोमय या चकाचौंध करनेवाला था कि अर्जुन उसकी पूर्णता का दर्शन नहीं कर सका था। उसने जितना कुछ दर्शन किया, वहभी इतना भयावह था कि उसकी आँखें उसे सहन नहीं कर सकीं। अक्षरशः अर्थ तो इसका यह है कि उस अद्वितीय विश्वरूप के दर्शन के लिए, जो सापेक्ष और आंशिक भाव के परे है, अर्जुन को दिव्य दृष्टि दी गई थी। आशय यह है कि जब योगी पवित्र और समर्पित जीवन, समत्व-भाव की साधना और ध्यान के द्वारा अपने आपको सारे विश्व में मिला देता है, और सारी सृष्टि की परमएकता का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसका साधना-निरत आत्मा सर्वव्यापी विश्व-विभूति की एक झलक पा सकता है।

अंधे महाराजा धृतराष्ट्र को महाभारत-युद्ध का सारा वर्णन सुनानेवाले संजय ने अर्जुन को दिखाये गये विश्वरूप का वर्णन भी किया है। वह परब्रह्म का-उस परिपूर्ण का--रूप था, जिससे सारी ही सृष्टि व्याप्त है, और जिसमें भलाई और बुराई, सुन्दर और असुन्दर, मोहक और भयानक, सुखद और दुःखद के सारे द्वंद्व भी समाये हुए हैं।

CHAPTER XIV

SEEING GOD

[Adhyaya XI—Slokas 9, 12, 13, 15-18, 38-40, 43, 44.]

THE eleventh chapter of the *Gita* records what may be termed a miracle. Arjuna is enabled to see God as the all-embracing Universal spirit before which the pairs of opposites, of good and evil, pleasure and pain, light and darkness, and the like, disappear. This vision of the Universal was too dazzling for Arjuna to see as a whole, and even what he saw was too awful for sight to bear. Literally Arjuna was given the divine eye to enable him to see the trans-dichotomous *Visvarupa,* which transcends the Relative and the Partial. The meaning of this is that the aspiring soul may catch a glimpse of God, the Universal Immanent Being, when by a pure and dedicated life, and by the practice of serenity and constant meditation, the *Yogi* succeeds in merging his self in the Universe and realises the ultimate oneness of all existence.

Sanjaya, who narrated the events of the battle to the blind Emperor Dhritarashtra, describes the vision that was unfolded to Arjuna. It was of God, the All, that embraces the whole universe not excluding either of the pairs of opposites, good and evil, beautiful and ugly, sweet and terrible, pleasant and painful.

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।

संजय ने कहा

हे राजन् ! ऐसा कहकर महायोगेश्वर श्रीहरि ने पार्थ को अपना परम ईश्वरीय रूप दिखलाया। ११–९

Sanjaya said:

Having said this, O King, the great Lord of Yoga, Hari, showed to Partha His transcendent Form as Lord of the Universe. (XI-9)

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ।।

यदि आकाश में सहस्र सूर्य एकसाथ जगमगा उठते, तो उनका तेज भी उस महात्मा के तेज के बराबर शायद ही होता। ११–१२

If a thousand suns could blaze out together in the sky, that might perhaps be something like the glory of that great manifestation. (XI-12)

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।

वहाँ अनेक रूपों में विभक्त सम्पूर्ण जगत् को एकही रूप में स्थित देवाधिदेव के शरीर में अर्जुन ने देखा। ११–१३

Then the Pandava beheld the whole of the multitudinous universe, brought together and manifested as one single form in

the body that the God of all Gods then assumed. (XI-13)

जब यह विराट् रूप दिखाया गया, तो अर्जुन के हृदय से सहसा यह स्तुति निकल पड़ी:

When this great vision was unfolded, Arjuna burst into a hymn of praise.

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

हे देव ! मैं तुम्हारी देह में सभी देवताओं को देखता हूँ, और विशेष-विशेष प्राणियों के समुदायों को भी, कमलासन पर विराजमान ब्रह्मा को, सब ऋषियों को और दिव्य सर्पों को भी देखता हूँ। ११-१५

In Thy form, O God, all the gods I see, and crowds of all grades of beings; Brahma, the Lord, upon His lotus-seat, all the Rishis, and the serpent-gods. (XI-15)

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

मैं सर्वत्र तुम्हें ही देखता हूँ—अनेक हाथों, उदर, मुख और नेत्रों से युक्त तुम अनन्त रूपोंवाले को, हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त मुझे दिखलाई नहीं पड़ रहा। ११-१६

I see Thee everywhere, with arms, trunks, mouths and eyes, multitudinous, of shape limitless. I see no beginning, middle, nor end of Thee, Lord of the Universe, Form All-embracing. (XI-16)

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।

मुकुट, गदा और चक्र धारण किये हुए तेज के पुंज और सब दिशाओं में अपनी दीप्ति फैलाये हुए प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान देदीप्यमान, दुर्निरीक्ष्य, अर्थात् आँखों को चौंधिया देनेवाले और अपरंपार—सर्वत्र मैं तुम्हें ही देख रहा हूँ। ११–१७

Immeasurable, dazzling, mass of splendour, like the sun or the blazing fire, with lustre issuing in all directions, and with crown, mace and discus, I see Thee. (X-17)

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।

तुम अक्षर अर्थात् अविनाशी हो, परे से भी परे हो, तुम सम्पूर्ण ज्ञान के लक्ष्य हो, इस जगत् के अंतिम आधार हो, तुम शाश्वत धर्म के निर्विकार संरक्षक हो, और सनातन पुरुष मुझे तुम्हीं जान पड़ते हो। ११–१८

Thou art the ever-abiding, the Transcendent, the Goal of all knowledge. Thou art the supreme abode of this universe; Thou art the changeless Guardian of Eternal Nature. (XI-18)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।

तुम आदिदेव हो, तुम पुरातन पुरुष हो, तुम इस विश्व के परम-आश्रय हो, तुम सब-कुछ जाननेवाले हो, और तुम्हीं जाननेयोग्य हो,

तुम परमधाम हो, हे अनन्तरूप! यह जगत् तुमसे ही विस्तृत या व्याप्त है। ११-३८

First of the Gods, Primeval Spirit, Supreme abode of all that lives; Thou art the Knower and Thou art that which is to be known, Thou art Heaven transcendent, Thou art spread over the universe, O Thou of shape unending! (XI-38)

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

तुमही वायु हो, यम हो, अग्नि हो, वरुण हो और चन्द्र हो, तुमही प्रजापति हो, और तुमही प्रपितामह हो; तुमको मेरा नमस्कार है, सहस्रों बार नमस्कार है! मैं बारबार तुम्हें नमस्कार करता हूँ। ११-३९

Thou art Vayu, Yama, Agni, Varuna and the Moon. Thou art the progenitor of the universe, the Grandsire. Prostrations to Thee! A thousand prostrations! Again and again, I bow to Thee. (XI-39)

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

मैं तुम्हें आगे से नमस्कार करता हूँ, पीछे से नमस्कार करता हूँ, हे सर्व! मैं तुम्हें सब दिशाओं से नमस्कार करता हूँ, तुम्हारा वीर्य अनन्त है, तुम्हारा पराक्रम असीम है, तुमसें ही सबकी पूर्ति होती है, तुम स्वयं सब-कुछ हो। ११-४०

I bow in front of Thee, I bow to Thee behind. Prostrations on every side to Thee, O All. Of energy boundless, measureless in

strength, Thou art the completion of everything; Thou art everything Thyself. (XI-40)

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।

तुम स्थावर (अचर) और जंगम (चर) सारे जगत् के पिता हो, तुम पूज्य हो, तुम सबसे महान् गुरु हो, तुम्हारे बराबर कोई नहीं है, फिर तुमसे अधिक तो कोई हो ही कहाँ सकता है ? तीनों लोकों में तुम्हारे प्रभाव का कोई जोड़ नहीं है। ११–४३

Thou art the world's Father, of all that moves, and of all that stands, adorable, the greatest Guru. There is none like Thee. Who can surpass Thee, unequalled in power in all the three worlds? (XI-43)

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।

मैं तुमको साष्टांग प्रणाम करता हूँ, हे स्तुत्य प्रभो ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम प्रसन्न हो जाओ ! जैसे पिता अपने पुत्र के, सखा अपने सखा के और प्रिय अपने प्रिया के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार तुम मेरे अपराध क्षमा करो। ११–४४

Therefore, I fall prostrate and offer salutations to Thee; worthy Lord, I seek Thy grace; Thou shouldst bear with me as father does with son, as friend with friend, as lover with his beloved. (XI-44)

प्रकरण १५

उपसंहार

अब हम अपने अबतक के अध्ययन को संक्षेप में दोहरा लें।

जीवात्मा की पूर्व प्रवृत्तियों और आसक्तियों के फलस्वरूप हम शरीर और मन के कुछ विशेष गुणों और क्षमताओं के साथ जन्म लेते हैं। ये हमें दृढ़ता से जकड़े रहते हैं। पर हम अपने-आपको इनसे छुड़ा लेने के लिए स्वतंत्र हैं। जीवात्मा अपने वर्तमान शरीर में रहता हुआ जो कर्म करता है, उन्हींसे उसके भविष्य का निर्धारण होता है। उनके परिणामस्वरूप वह पूर्व कर्मों से आंशिक या पूर्ण मुक्ति भी पा सकता है, और उसके बंधन अधिक कड़े भी हो सकते हैं। परन्तु पूर्वबंधन कितना भी बड़ा क्यों न हो, परमात्मा की कृपा होने पर उससे छुटकारा मिल सकता है। इसका कारण केवल यही नहीं कि परमात्मा की कृपा स्वयं शक्तिशालिनी होती है, किंतु यह भी है कि जीव उस कृपा को प्राप्त करने के लिए जो-जो प्रयत्न करता है, उनमें भी, मन की दूसरी गति-विधियों के समान, कर्म-बन्धन काटने की शक्ति होती है। गीता बताती है कि ये प्रयत्न कौन-से हैं। उसमें इन्हें 'योग' कहा गया है।

गीता के योग की साधना में लगातार प्रगति और वृद्धि करते रहने की आवश्यकता होती है। साधना के प्रयत्न असफल होने से कोई हानि नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सच्चा प्रयत्न अपने-आप में लाभदायक होता है। योग के अंग ये हैं:

१. इन्द्रियों को जीतना और आचार को शुद्ध रखना; जीवन के साधारण क्रम उपासना, कार्य, आहार, निद्रा आदि को नियमित रखना।

२. प्राकृतिक दृष्टि से हम जिस कार्य के योग्य हों और हमारी सामाजिक स्थिति के कारण जो कार्य हमारे लिए नियत हों उनको निःस्वार्थ भाव से और उतनी ही सावधानी से करते रहना।

३. सच्ची निर्लिप्तता की साधना और कठिनाइयों, असफलताओं तथा आनन्द, शोक या निराशा के कारणों में समभाव रखने का अभ्यास करना।

४. मन की प्रवृत्तियों पर सतर्कता के साथ नियंत्रण रखना, और मन को क्षुब्ध करनेवाले विकारों याने काम, क्रोध और लोभ का त्याग।

५. शान्त, एकाग्र ध्यान के लिए समय-समय पर मन को अन्तर्मुख करना।

६. ईश्वर की कृपा का सहारा और अपने-आपको उसीके भरोसे पर छोड़ देना।

योग के इन अंगों में से हरेक पर अलग-अलग जोर दिया जा सकता है, और हरेक को अलग नाम भी दिया जा सकता है,—जैसे, सांख्य-योग, कर्म-योग, ज्ञान-योग, संन्यास-योग, अध्यात्म-योग या भक्ति-योग। परन्तु व्यवहार में इन सबका आपसी संबंध है, और अभिन्न भी है। इसीलिए गीता में इन सबको मिलाकर एक मिला-जुला रूप दिया गया है।

संभव है कि हमारा कोई पाठक कहे कि गीता का आदर्श तो अच्छा है, पर वह व्यावहारिक नहीं है, साधारण आदमी उसे पूरा करने की आशा कर ही नहीं सकते। तब इस वास्तविक जगत् के लोगों के लिए उसका उपयोग क्या?

यह प्रश्न केवल गीता की शिक्षा के बारे में ही नहीं, संसार के सभी बड़े-बड़े धर्मों के बारे में उठाया जा सकता है। सभी धर्मों और धर्मग्रंथों में ऐसेही आदर्श बताये गये हैं, जिनको एक-एक दिन के काम और उसके फल का हिसाब करनेवाली दुनिया में पूरी तरह से सिद्ध कर लेना असंभव है। उदाहरण के लिए, कौन कह सकता है कि ईसा को परमेश्वर की तरह माननेवाले ईसाई उसके जीवन और शिक्षाओं पर सच्चाई के साथ और पूरी तरह चल सकते हैं? यही बात कुरान की और बौद्ध-शिक्षाओं के बारे में भी लागू हैं। फिरभी सच यह है कि इनमें से प्रत्येक धर्म ने न केवल महापुरुषों के हृदयों को उद्वेलित किया है और उनके आत्माओं को बल प्रदान किया है, वरन् वह करोड़ों साधारण मनुष्यों का दैनिक पाथेय है, जिसके बिना वे आज जंगली पशुओं के जैसे होते।

बाइबिल, कुरान और गीता दीपकों के समान हैं, जिनसे अंधकार में हमारा मार्ग प्रकाशित होता है। दीपक हाथ में होने पर भी हम अपनी ही छाया मार्ग पर डालते रहते हैं। इसी प्रकार हमारे पास धर्मग्रंथों की शिक्षा का प्रकाश होने पर भी आक्रमणकारी लोभ, संशय और भय अपनी काली छाया फैलाते रहते हैं, और हमारा मार्ग प्रकाश

और अंधकार की भूलभुलैया बन जाता है। फिर भी, दीपक को दृढ़ता से पकड़े रहने पर हम बहुत-कुछ कुशलपूर्वक चल सकते हैं। अगर हम दीपक को बुझ जाने देंगे, तो जंगल में भटक जायेंगे। किसी ग्रंथ की दुहाइयाँ देनेवालों में हर आदमी उसमें बताये हुए सब आदर्शों का पालन नहीं कर सकता। पर यदि हर मनुष्य प्रयत्न करे तो उन आदर्शों के आसपास एक समाज का निर्माण हो जाता है। जब सारा राष्ट्र किन्हीं आदर्शों का आदर करने लगता है, तब जीवन में आचार के ऐसे मानदण्ड बन जाते हैं, जिनसे मनुष्य पशु बनने से बचते हैं, और वे एकसूत्र में बँधे रहते हैं। हम पूर्ण नहीं बन सकते, इसलिए अंधकार में मार्ग देखने के लिए दीपक को दृढ़ता से नहीं पकड़ेंगे, यह तो कोई आपत्ति नहीं हुई। धर्म की सहायता से मनुष्य, बहुधा गलतियाँ करते हुए भी, मनुष्य के समान रहते हैं। क्या शारीरिक आरोग्य के नियमों का भी पूरा पालन संभव नहीं है? उन्हें यह सोचकर तो कोई छोड़ नहीं देता कि वे असाध्य नियमों की सूची है, या पूर्णता प्राप्त करने के निरे मंत्र हैं। बुद्धिमान स्त्री-पुरुष, जहाँ तक उनसे बनता है, उन नियमों के पालन करने का प्रयत्न करते हैं, और उनसे लाभ भी उठाते हैं। आत्मा की सार-संभाल और सुरक्षा के बारे में भी यही होना चाहिए।

CHAPTER XV

CONCLUSION

WE may now summarise our studies.

We are born with certain qualities and potentialities of body and mind as a result of the previous activities and attachments of the soul. This holds us in a strong grip. But we have the freedom to liberate ourselves. The soul's activities in its present body decide its future, whether it be partial or complete liberation from past *Karma* or further bondage. The Grace of God can bring about liberation, however great may

be the previous bondage. This is so, not only because of the inherent power of Grace, but also because the soul's efforts to obtain that Grace have themselves, like other motions of the mind, *Karmic* potency. The *Gita* teaches what these efforts should be, to which it gives the name of *Yoga*.

The *Yoga* of the *Gita* is a progressive and multiple process. There is no loss in attempt and failure, as every sincere effort is a gain in itself. It consists of:

(1) Control of the senses and purity of conduct, and regulation of the routine of life, worship, work, food, sleep, etc.;
(2) Unselfish, but none the less attentive, performance of the duties to which one is called by one's natural fitness and by reason of one's place in the social organisation;
(3) Cultivation of true detachment and an even spirit in the face of success or difficulty or failure, or causes for joy, grief or disappointment;
(4) Vigilant control of the motions of the mind, and the elimination of passions that disturb it—lust, anger and greed;
(5) Periodical turning of the mind inwards, for silent, concentrated meditation; and
(6) Surrender to God's grace.

Each of these aspects of *Yoga* may be emphasised and given a separate name, such as *Sankhya*

Yoga, Karma Yoga, Jnana Yoga, Sannyasa Yoga, Adhyatma Yoga, or *Bhakti Yoga.* But, in practice, they are all mutually connected and inseparable; and so, all are combined in the *Gita* and brought together in one organic synthesis.

It is possible that the reader of these pages may say: The ideal of the *Gita* is good, but it is impracticable; ordinary men can never hope to attain it. What good is it then to men in this world of reality?

This question may be asked not only in respect of the *Gita* teaching, but of every great religion of the world. All the faiths and all the scriptures present ideals that are impossible of complete attainment in the work-a-day world. For example, who can maintain that the life and teachings of Christ can be truly and fully followed by the Christians that revere and worship Him as God? The same is the case of the Koranic or the Buddhistic teachings. Yet it is true that every one of these religions has not only stirred great men's hearts and given strength to their souls, but is the daily bread of life to millions of common mortals, who otherwise would have been like beasts of the field.

The *Bible,* the *Koran* and the *Gita* are like lamps that light our paths in darkness. We cast our own shadows on our path in spite of the lantern in our hands; so, every besetting temptation, doubt, fear or difficulty throws its dark shadow, in spite of the light we carry; and the way is a chequered pattern of light and shadow. Still,

holding the light firmly in our hands we may walk fairly safely. If we let the light go out, we should be lost in the jungle. Not every one that swears by a book may be able to follow everything that is said therein; but if every one tries, society grows round the ideals. When a whole people revere certain ideals, life is furnished with standards of conduct that save men from becoming mere beasts of the field and they are held together. That we cannot be perfect is no objection to hold the light firmly in our hands, so that we may see our way amidst the shadows. Helped by Religion, men live like men even though, too often, erring. Why, are not the rules of mere physical hygiene impossible of being followed to perfection? No one thinks of discarding the rules of physical hygiene as a string of impossibilities and counsels of perfection; but wise men and women try as far as they can to abide by them, and we profit thereby. So should it be also with the care and protection of the Soul.

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।

प्रयत्न के नाश जैसा इसमें कुछ नहीं है, और न साधना में त्रुटि के कारण उलटे परिणाम का भय ही है। इस धर्म का थोड़ा-सा पालन भी महान् भय से बचा लेता है। २–४०

There is nothing like waste of effort in this, nor is there any danger of retrogression by reason of shortcomings in practice. Even a little of this Dharma saves men from the great evil. (II-40)

*

श्लोकों की सूची

लेखक

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, जिनसे सर्वसाधारण सी. आर. या राजाजी नाम से परिचित हैं—महान देशभक्त, प्रखर राजनीतिज्ञ और गहन विचारक एवं देशकी श्रेष्ठतम विभूतियों में से एक हैं। उन्होंने महात्मा गांधी के निकटतम सहयोगी, स्वतन्त्रता संग्राम के उत्साही सैनिक, मद्रास के मुख्य मंत्री, पश्चिम बंगाल के राज्यपाल, भारत के गृह मंत्री और स्वतंत्र भारत के प्रथम भारतीय गवर्नर जनरल की हैसियत से देश की अन्यतम सेवा की है और आज के राष्ट्र-जीवन पर उनकी अमिट छाप है।

भगवद्गीता हिन्दू-धर्म के ध्येय, आदर्श और जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करनेवाले सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रंथों में से है। इसमें प्रतिष्ठापित आदर्शों का भाष्य करने के लिए राजाजी से अधिक उपयुक्त भाष्यकार संभव नहीं हैं। क्योंकि निर्विवाद रूप से वही ऐसे व्यक्ति हैं, जो आज के अत्यंत उच्छृंखल सामाजिक, राजनीतिक संघर्षों के बीच रहते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा प्रतिष्ठापित आदर्शों पर अडिग हैं।